मानव अधिकार

संचयिका

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
भारत

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

मानव अधिकार संचयिका

2014

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
मानव अधिकार भवन,
सी–ब्लॉक, जीपीओ कॉम्पलेक्स, आईएनए, नई दिल्ली–110023
भारत

प्रकाशक : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
मानव अधिकार भवन, सी–ब्लॉक, जीपीओ कॉम्पलेक्स,
आईएनए, नई दिल्ली–110023

© 2014 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

प्रकाशन तिथि : 10, दिसम्बर, 2014

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग या संपादक का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्राप्ति स्थान : **राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग**
मानव अधिकार भवन, सी–ब्लॉक, जीपीओ कॉम्पलेक्स,
आईएनए, नई दिल्ली–110023
वेबसाईट : www.nhrc.nic.in
ई–मेल : covdnhrc@nic.in

आवरण छवि – डॉ. रणजीत सिंह
तकनीकी सहायता – उत्पल नारायण सरकार

प्रिटिंग एवं डिजाईनिंग:
डॉल्फिन प्रिंटो–ग्राफिक्स
4ई / 7, पाबला बिल्डिंग, झंडेवालान एक्सटेंशन, नई दिल्ली–110055
फोन : 011–23593541–42
ई–मेल : dolphinprinto2011@gmail.com

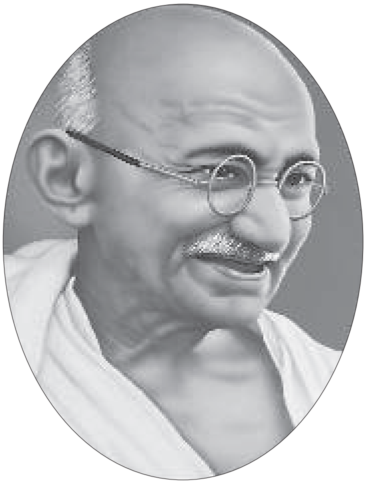

स्वयं को जानने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है, स्वयं को औरों की सेवा में डूबा देना।

—महात्मा गाँधी

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

अध्यक्ष
न्यायमूर्ति श्री के.जी. बालाकृष्णन

सदस्य
न्यायमूर्ति श्री सिरियक जोसफ
न्यायमूर्ति श्री डी. मुरुगेसन
श्री एस. सी. सिन्हा

महासचिव
राजेश किशोर

रजिस्ट्रार
अनिल कुमार गर्ग

संयुक्त सचिव (का0 एवं प्रशा0)
डॉ. रणजीत सिंह

संयुक्त सचिव (प्रशिक्षण)
जयदीप सिंह कोचर

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

मानव अधिकार संचयिका

वर्ष 2014

परामर्श

एस.सी. सिन्हा

राजेश किशोर

प्रधान संपादक

डॉ. रणजीत सिंह

संपादक

डॉ0 सरोज कुमार शुक्ल

संपादन सहयोग

अंजली सकलानी

अमित कुमार साव

अखिलेश सिंह

कम्प्यूटरीकरण

सीमा शर्मा
सरिता विजय बहादुर

अनुक्रम

				पृष्ठ
•	दो शब्द	:		xi
•	संपादकीय	:		xiii
प्रथम खंड– समाज				
1.	हाशिये के लोगों के मानवधिकार और शिक्षा	:	जगमोहन सिंह राजपूत	1–7
2.	जेल प्रबन्धन में मानवधिकार	:	राजेश प्रताप सिंह, आईपीएस	9–20
3.	आतंकवाद, पुलिस एवं मानवधिकार एक विहंगावलोकन	:	डॉ. कुंवर विजय प्रताप सिंह	21–27
4.	स्त्री–सशक्तिकरण, बदलता हुआ परिवेश तथा मानव–मूल्य	:	डॉ. अनिता सिंह	29–34
5.	महिला सशक्तीकरण, न्यायपालिका और 21वीं सदी	:	श्रीमती प्रतिभा सिंह	35–40
6.	आदिवासी, दलित एवं जनजाति की सामाजिक उपस्थितिः एक विहंगावलोकन	:	प्रो. सोमा बंधोपाध्याय	41–46
7.	सामाजिक अस्मिता, विकास और मानवधिकार	:	डॉ. आर.पी. सिंह	47–51
8.	सामाजिक न्याय, भारतीय परिदृश्य तथा मानव अधिकारः एक विमर्श	:	डॉ. जोराम आनिया ताना	53–55
9.	सुशासन में महिलाओं की भागीदारी	:	डॉ. जोराम आनिया ताना	57–59
10.	सांस्कृतिक अस्मिता, वैश्वीकरण और सामाजिक सरोकार	:	डॉ. प्रतिभा	61–64
11.	परिधि के सरोकार तथा हाशिये पर जिंदगी : एक यात्रा	:	डॉ. विभा कुमारी	65–74
12.	वैश्वीकरण एवं मानवाधिकारः सहयात्रा के जरूरी उपक्रम	:	डॉ. सरोज कुमार वर्मा	75–85
13.	मानवधिकार की अवधारणा	:	प्रो. एच. सुवदनी देवी	87–89

14.	सत्ता और समाजः उभरती चुनौतियां	: सत्यानंद पाठक	91–94
15.	समाज निर्माण, जातीय एकता और मीडिया	: राकेश रेणु	95–99

द्वितीय खण्ड–मीडिया

16.	गांधी की पत्रकारिता के बरक्स आज की पत्रकारिता	: राकेश रेणु	103–107
17.	मीडिया का यथार्थ और मानव अधिकार	: राकेश रेणु	109–114
18.	मानवाधिकारों की रक्षा और टीआरपी बढ़ाने की होड़	: डॉ. कुंजन आयार्च	115–118
19.	स्त्री के प्रति अपराध, मीडिया का धर्म तथा जनआक्रोशः एक संवाद	: डॉ. अनिता सिंह	119–123
20.	महिला सशक्तीकरण, स्वतंत्रोत्तर हिन्दी पत्रकारिता व मानव अधिकार	: प्रो (डॉ.) ममता चंद्रशेखर	125–128
21.	महिला सशक्तीकरण, सामाजिक चेतना व मीडिया	: डॉ. संजुला थानवी	129–144

तृतीय खण्ड–साहित्य

22.	मानवधिकार, विज्ञान और साहित्य और शिक्षा	: प्रो. नन्द किशोर आचार्य	147–150
23.	Empowerment of Women Media and Human Rights	: Dr. Sudha Mohan	151-167
24.	वैश्वीकरण के सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भ	: माधव हाडा	169–175
25.	साहित्य और मानवाधिकार	: नंद चतुर्वेदी	177–181
26.	बांग्ला स्त्री–लेखन में स्त्री अधिकार चेतना, सोच एवं संघर्ष	: प्रो. सोमा बंधोपाध्याय	183–187

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

दो शब्द

भारतीय सभ्यता और संस्कृति की चिंतन–धारा में मानव की अस्मिता, मानवीय गरिमा की सर्वोच्चता, मानवीय प्रतिष्ठा की अपरिहार्यता और मानव के सर्वांगीण विकास का भाव अनेक तरह से प्रकट हुआ है। यह सुखद आश्चर्य है कि आधुनिक विश्वव्यापी और सार्वभौमिक अवधारणा के अनुरूप हमारे देश में भी मानवाधिकारों के विभिन्न संदर्भ और आयाम दृष्टिगत होते हैं।

दरअसल, भारतीय चिंतन में मानवाधिकारों की अवधारणा का अंकुर अत्यंत प्राचीन काल से मौजूद था। इस प्रकार की अवधारणा अशोक के शिलालेखों, भगवान, बुद्ध और भगवान महावीर के उपदेशों, बाइबल, कुरान, और गुरु ग्रंथ साहब के पवित्र संदेशों में समान रूप से दृष्टिगोचर होती है। मध्यकालीन सन्तों की वाणियों के माध्यम से समता और सर्वकल्याण की वह धारा हम तक निरन्तर प्रवाहित होती रही है, जो उपनिषदों के शान्तिपाठों से निकली थी। इस वैचारिक सम्पदा से समृद्ध होने के कारण हमारे संविधान निर्माताओं ने मानवाधिकारों की अनिवार्यता और अपरिहार्यता को भली–भांति अनुभव करते हुए मौलिक अधिकारों के साथ–साथ राज्य के नीति–निर्देशक सिद्धांतों के अंतर्गत मानव–जीवन से जुड़े लगभग सभी आयामों के बारे में प्रावधान किए और मानवाधिकार की समकालीन परिकल्पना से उनका सामंजस्य स्थापित किया।

प्रस्तुत पुस्तक "मानव अधिकार संचयिका" (वर्ष 2014) आयोग द्वारा मानव अधिकारों से जुड़े हुए महत्वपूर्ण एवं समसामयिक विषयों पर विभिन्न विश्वविद्यालयों के सहयोग से आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठियों में देश के वरिष्ठ साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों, वरिष्ठ अधिकारियों, पत्रकारों तथा अकादमिक क्षेत्र से जुड़े हुए विद्वानों द्वारा पढ़े गए लेखों का महत्वपूर्ण, सूचनाप्रद एवं उपयोगी संकलन है।

मेरा यह विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहीत आलेख मानव अधिकारों के क्षेत्र में अध्ययनरत–विद्याथियों, शोधार्थियों के साथ–साथ शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े प्रतिनिधियों के लिए मानव अधिकार के क्षेत्र में अद्वितीय आयाम के रूप में उभर **कर सामने आ सकेगा। साथ ही, मैं इस पुस्तक में योगदान करने वाले सभी प्रबुद्ध लेखकों, बुद्धिजीवियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।**

(न्यायमूर्ति श्री के. जी. बालाकृष्णन)

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

सम्पादकीय

किसी भी समाज और राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिए परमावश्यक होता है कि उसके तमाम नागरिक अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों के प्रति सचेत हों और लोकतांत्रिक मूल्यों से सम्पन्न भी। परम्परा प्रदत्त मूल्यों और आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के बीच अनेक बार अंतर्द्वन्द भी घटित होता है। व्यक्ति के संस्कारजनित सोच और संवैधानिक मान्यताओं के बीच अनयोन्यक्रिया जटिल मानसिक गतिविधि होती है। इसके लिए आवश्यक होता है कि संवैधानिक मूल्यों के पक्ष में माइंडसेट तैयार किया जाए। नागरिकों की मानसिकता में बदलाव के लिए वैचारिक बहस–मुबाहिसा करने होते हैं। बौद्धिक विमर्श करने होते हैं। बौद्धिक विमर्श के दौरान व्यक्ति मानसिक रूप से वैचारिक परिवर्तनों के लिए तैयार होता है। कोई भी बदलाव प्रथमतया मानसिक धरातल पर घटित होता है फिर व्यावहारिक रूप ग्रहण करता है। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग देश भर में मानवाधिकारों, लोकतांत्रिक मूल्यों के पक्ष में अनुकूलताएँ तैयार करने हेतु बौद्धिक विमर्श का आयोजन करता है।

अमूमन ये संगोष्ठियाँ विश्वविद्यालयों में होती हैं। मकसद होता है – विश्वविद्यालयों के युवा छात्रा–छात्राओं, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, बुद्धिधर्मियों से संवाद करना और इसके जरिये मानवाधिकारों के विभिन्न पहलुओं के प्रति सचेत करना। हमारी सामाजिक और मानसिक संरचना के जिन सिद्धांतों, का मानवाधिकार के मूल्यों से टकराव होता है और फलस्वरूप जो चुनौतियाँ पेश आती हैं, उन्हें सुलझाने का सार्थक प्रयास करना। इस लक्ष्य के मद्देनजर मानवाधिकार आयोग देश एवं समाज के विभिन्न आयामों पर केन्द्रित विषयों पर, विद्वानों को आमंत्रित कर बौद्धिक–विमर्श करता है। इस विमर्श के दौरान जो विचार अभिव्यक्त होते हैं, उसी का संकलन है यह संचयिका।

इस पुस्तक में विश्वविद्यालयों के अध्यापक, पुलिस अधिकारी, पत्रकार और बुद्धिजीवियों के आलेख शामिल हैं। इस लिहाज से इसमें विषयों की पर्याप्त विविधता है। इसमें हमारे समय, समाज और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं के साथ मानवाधिकार के संबंधों की झलक महसूस की जा सकती है।

तीन खण्डों – समाज, मीडिया और साहित्य – में विभक्त इस पुस्तक में समाज एवं राष्ट्र के विभिन्न उपादानों की बौद्धिक पड़ताल हैं। वरिष्ठ पुलिस अधिकारी राजेश प्रताप सिंह और डॉ0 कुँवर विजय प्रताप सिंह ने क्रमशः जेल प्रबंधन में मानवाधिकार तथा आतंकवाद, पुलिस व मानवाधिकार के जटिल संबंधों में मानवाधिकार तथा आतंकवाद पुलिस

व मानवाधिकार के जटिल संबंधों पर विमर्श किया है। राजेश प्रताप सिंह का निष्कर्ष ध्यातव्य है– "कानून प्रवर्तन अधिकारियों एवं एजेंसियों को अपना मुख्य कार्य इस प्रकार करना चाहिए, जिससे मानव अधिकारों का आदर व संरक्षण हो और जिससे न केवल अपना सम्मान हो, बल्कि उस सरकार व राष्ट्र का भी सम्मान हो, जिसने उन्हें नियुक्त किया है।" डॉ0 कुँवर विजय प्रताप सिंह में आतंकवाद, पुलिस और मानवाधिकार पर गहन विचार के पश्चात् उपसंहार में सात सुझाव दिया है, जो काबिलेगौर है। मानवाधिकारों पर विचार करने के दौरान सरकार की जो एजेंसी सवालों के घेरे में सबसे ज्यादा आती है, वह है – पुलिस। लोकतांत्रिक और समतामूलक समाज–निर्माण के लिए आवश्यक है कि मानवाधिकारों का हनन नहीं हो, पर साथ ही यह भी कि पुलिस किन स्थितियों में अपनी भूमिका निर्वहन करती है, उसके समक्ष कैसी चुनौतियाँ होनी हैं, इस पर भी संवेदनशीलता के साथ विचार किया जाए।

तमाम प्रयासों के बावजूद समाज के हाशिये के तबकों – स्त्रियों, दलित, आदिवासी, निर्धन के हालात ऐसे नहीं हैं, जहाँ उनसे किसी प्रकार के भेदभाव नहीं हों। हालाँकि अपने लक्ष्य की दिशा में हमारा समाज और राष्ट्र तेजी से अग्रसर है। इस संचयिका में, प्रो0 जगमोहन सिंह राजपूत, डॉ0 प्रतिभा, डॉ0 ममता चंद्रशेखर, डॉ0 अनिता सिंह, प्रो0 सोमा बंधोपाध्याय, डॉ0 संजुला थानवी, डॉ0 जोराम आनिया ताना, डॉ0 विभा कुमारी के आलेख इन्हीं सरोकारों पर केंद्रित हैं।

इन तमाम मुद्दों को लोगों तक ले जाने का काम मीडिया करता है। पिछले दशक से मीडिया के चरित्र में भी काफी बदलाव घटित हुए हैं। मानवाधिकारों के प्रति जागरूक करनेवाले मीडिया की भूमिका भी प्रश्नांकित हुई है। आखिर इसकी कारक शक्तियाँ कौन हैं? भूमंडलीकरण के इस दौर में जो सामाजिक–आर्थिक परिवर्तन हुए हैं, उनसे भारतीय मीडिया अछूता नहीं है। राकेशरेणु, डॉ0 माधव हाड़ा, डॉ0 नंद चतुर्वेदी, डॉ0 सरोज कुमार वर्मा, कुंजन आचार्य ने इस मसले को गंभीरतापूर्वक रेखांकित किया है। शेष आलेख भी मानवाधिकार के पहलुओं की संवेदनशीलता को उजागर करने वाले हैं।

वरिष्ठ चिंतक नंदकिशोर आचार्य ने कतिपय भिन्न विषय विज्ञान, साहित्य और मानवाधिकार के परस्पर संबंधों का गहन विश्लेषण किया। इस विचारोत्तेजक आलेख में श्री आचार्य ने मानवाधिकार की महत्ता रेखांकित की है।

हमारा विश्वास हैं कि पूर्व की भांति यह संचयिका भी मानवाधिकार के प्रति जागरूक करने, इस दिशा में सकर्मक सोच और व्यावहारिक जीवन में इसे उतारने के लिए प्रेरित करने में सफल सिद्ध होगी। इसी में इस संचयिका की सार्थकता अंतर्निहित है।

(डॉ सरोज कुमार शुक्ल)

प्रथम खण्ड – समाज

हाशिये के लोगों के मानवाधिकार और शिक्षा*

#जगमोहन सिंह राजपूत

सभी जानते और समझते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह सोच सकता है, मनन, चिन्तन कर सकता है, अपने विचारों और नवाचारों को व्यवहारिकता में ठोस शक्ल दे सकता है। जैसे जैसे मानवीय सभ्यताओं का परिष्कार तथा सम्वर्द्धन हुआ है, मनुष्य नें अपनी दुनिया बदली है और पिछले कुछ दशकों में आश्चर्यजनक तेजी से बदली है। उसने मानव मात्र की शाश्वत एकता को पहचाना है। अनेक सतही विभिन्नताओं का विश्लेषण कर यह जाना है कि रंग, नस्ल, लिंग, जाति, पंन्थिक जैसे अन्तर तथा ऐसे अन्य तत्व किसी भी एक वर्ग को दूसरे से श्रेष्ठ सिद्ध नहीं कर सकते हैं। उसने यह भी जाना है छूआ–छूत, रंग भेद, दास प्रथा, उपनिवेषवाद, अज्ञान, लालसा, धन लिप्सा तथा साधनों और सम्पत्तियों पर ही नहीं देशों पर भी शासन करने की प्रथा मनुष्य की अस्वीकार्य प्रवृत्तियाँ तथा उनके परिणाम रहे हैं। मनुष्य के उर्वर मस्तिष्क नें इन्हें 21वीं सदी में सिरे से अस्वीकृत कर दिया हैं। मानवाधिकारों को लेकर जो बहस बीसवीं सदी में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तेजी से उभरी उसके पहले भी काफी जमीन तैयार की जा चुकी थी। दास प्रथा समाप्त हो चुकी थी, छुआछूत को समाप्त करने का आन्दोलन भारत में तेजी से उभर चुका था। भारत तथा अन्य देश स्वतन्त्र हो रहे थे, उपनिवेषवाद अन्तिम सांसे ले रहा था। यह भी सही था कि इनमें पूरी तरह समाप्त कुछ भी नहीं हुआ था– बधुँआ मजदूर दासों जैसी जिन्दगी जी रहे थे, छुआछूत के प्रचलित रहने के उदाहरण तब भी थे, आज भी हैं। उपनिवेषवाद अब आर्थिक स्वरूप ले रहा है, विकासशील देशों के आर्थिक ही नहीं वैचारिक तथा सांस्कृतिक पक्ष पर भी हावी हो रहा है। अनेक देशों नें अपने पहले के आकाओं का अनुसरण करने में ही अपनी भलाई देखी है। प्रगति तथा विकास के लिये अपनी देशज वैचारिकता न अपनाने के कारण असन्तुलित विकास ही इन्हें मिल सकता था। ऐसी स्थिति में कुछ को अनावश्यक– छप्पर फाड़ कर– लाभ मिला और बड़ा वर्ग कहीं न कहीं अपने को और पीछे धकेला पाता रहा। सम्पन्न वर्ग सत्ता सूत्रों की डोरी अपने हाथ में पूरी तरह जकड़ता गया– जो बाहर कर दिये गये थे, उनके अधिकार उनकी विवशता में परिवर्तित हो गये। वे और अधिक पीड़ित, वंचित तथा प्रताड़ित होते गये। सभ्य समाज इसे किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता हैं। हर व्यक्ति को उसके अधिकार मिलें इसके लिये राष्ट्रीय स्तर पर समेकित प्रयास आवश्यक है मगर इनका जुड़ाव

---

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (मिजोरम) में पढ़ा गया आलेख।

#शिक्षाविद् तथा पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर के प्रयत्नों से भी होना आवश्यक है। इसे सुदृढ़ करने के लिये व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक और सरकारी स्तर के प्रयास नींव के पत्थर हैं। यही मानवाधिकारों की सर्वव्यापकता के सपने को साकार कर सकते हैं।

वे सभी जिनके अधिकारों का हनन आज भी हो रहा है हाशिये पर माने जायेंगे। यहॉ यह आवश्यक नहीं है कि इनकी संख्या कम है या ज्यादा। थोड़े से अंग्रेजों नें करोड़ों भारतीयों को हाशिये पर फेंक रखा था। दक्षिण अफ्रीका में मुट्ठी भर अंग्रेजों नें बहुसंख्यक काले कहे जाने वालों के अधिकारों का हनन बेहिचक किया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं देश में, विदेश में। समय के साथ हो रहे परिवर्तन यह भी दर्शाते हैं कि 'कानून' मानवनिर्मित होता है और आवश्यक नहीं है कि वह सदा ही तर्कसंगत, नैतिक तथा मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत ही हो। रंगभेद, दास प्रथा, नस्ल भेद सभी कभी कानूनन मान्य थे। मानवीय मूल्यों तथा मानवता के आधार को सुदृढ़ करने का एकमात्र मार्ग शिक्षा तथा उससे प्रदत्त ज्ञान से ही आलोकित होता हैं इसीलिये यह माना जाता है कि ज्ञान से अधिक पवित्र और कुछ नहीं होता हैं। अतः यह अपेक्षा तर्क संगत है कि शिक्षा के संस्थान तथा ज्ञानसर्जन तथा वितरण के केन्द्र मानवाधिकारों के संरक्षण केन्द्र बने तथा जनसमाज में उनकी आवश्यकता का दीप लगातार जगमगाता रहें।

सबसे पहले व्यक्ति को मानवीय जीवन सार्थक बनाने के लिये जीवन जीने का अधिकार चाहिये। इसके साथ ही जुड़ते हैं स्वास्थ्य तथा परिवार के अधिकार, जिसमें लड़कियों तथा महिलाओं के बराबरी के अधिकार स्वतः ही आ जाते हैं। समानता के अधिकार के साथ जुड़ते हैं अभिव्यक्ति, पन्थ–पालन, सुशासन तथा सुरक्षा के अधिकार। यह व्यक्ति को तभी मिल सकते हैं या व्यक्ति तभी इन्हें पा सकता है जब उसे बराबरी के स्तर पर शिक्षा का अधिकार मिले जिसमें जीवन कौशल, व्यावसायिक कौशल तथा अभिव्यक्ति के अधिकार शामिल हों। यही उसे नये विचार, नवाचार तथा प्रयोग करने का अधिकार तथा आत्म विश्वास देता है। इसे अनेक प्रकार से परिभाषित तथा वर्णित किया जाता रहा है। शिक्षा व्यक्ति को संयमपूर्ण क्रियात्मक तथा सर्जनात्मक जीवन बिताने के लिये प्रेरित कर सकती है, समर्थ बना सकती है। शिक्षा का अधिकार ही हाशिये पर फेंके गये व्यक्तियों के जीवन पुनर्निमाण का सबसे महत्वपूर्ण साधन तथा संसाधन हैं। इस दिशा में किया गया हर प्रयास शिक्षा को आधार बनाकर ही सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया जा सकता है।

प्रजातन्त्र प्रणाली विभिन्न प्रकार के भेदों–विभेदों की उपस्थिति स्वीकार करते हुए सर्वसम्मति से ऐसी व्यवस्था लागू करने का प्रयास जिसमें सभी की भागीदारी हो और अन्तिम छोर के व्यक्ति को भी लगे कि वह निर्णय लेने में बराबरी का हिस्सेदार है। सारी व्यवस्था स्वार्थ को तिलांजलि देने का प्रयास करें, न्याय सर्वसुलभ कराये और हाशिये के लोगों की मूलभूत दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ यह भी क्रियान्वित करें कि

हर व्यक्ति के समान अधिकार हैं और कोई दूसरा जाने या अनजानें इनका अतिक्रमण न कर सके। भारत की परिस्थितियों, विशेषकर सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विषमताओं को ध्यान में रखकर संविधान में, अध्याय तीन में मूल अधिकारों को विस्तार से शामिल किया गया है। इसके पहले यूनेस्को का मानवाधिकार घोषणा पत्र 1948 को घोषित हो चुका था। अपने आप में विश्वस्तर पर उससे सशक्त दस्तावेज बनना तब असम्भव था। उसी तरह संविधान के अध्याय तीन में ईमानदारी से मानवाधिकारों की सर्व सुलभता का अत्यन्त प्रभावकारी प्रयास किया गया है। समानता का अधिकार अनुच्छेद 14, 15(1), 15(2) में विशेषरूप से निहित किया गया है। इसी अध्याय में स्वतन्त्रता का अधिकार, शोषण के विरूद्ध अधिकार, धर्म की स्वतन्त्रता तथा सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकारों को भी स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है। सम्बन्धित नियमों के संरक्षण तथा संविधान निहित प्रावधानों का सार तत्व अन्ततः शोषित, उपेक्षित, प्रताड़ित तथा वंचित वर्गों यानी हाशिये पर जान बुझकर पहुँचाये गये लोगों पर विशेष रूप से ही केन्द्रित होता है। भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में लक्ष्य विदेशियों को हटाना मात्र नहीं था, देश का नवनिर्माण करना भी था। 1922 में लिखे गये एक पत्र में महात्मा गांधी नें सारे मानवाधिकार तत्वों को कुछ शब्द में पिरो दिया था जब उन्होंने लिखा कि 'स्वराज' आने के बाद भी लोगों को 'खुशी' नहीं मिलेगी क्योंकि अन्याय, प्रशासन का बोझ, चुनावों की विकृतियॉं तथा वर्ग की प्रताड़ना अन्याय उन पर भारी पड़ेंगें' और वे कहने को सम्पन्न लगेंगे कि पहले अधिक न्याय तथा प्रशासनिक ईमानदारी थी। गाँधी जी ने उन्होंने शिक्षा को आशा की एक मात्र किरण बताया था, जिसका प्रकाश हर व्यक्ति तक पहुँचना चाहिये।

आजादी आने के बाद शिक्षा का विस्तार हुआ है, उसकी सार्वभौमिक स्वीकार्यता बढ़ी है। साक्षरता दर 20 से बढ़कर 75 प्रतिशत के पास पहुँची है। क्या यह फैलाव सामाजिक विकृतियों तथा मानवाधिकार हनन को समाप्त कर पाया है ? हाशिये पर सबसे बड़ा वर्ग है, लड़कियों तथा महिलाओं का, जिनके प्रति अपराध, विशेषकर यौनिक अपराध बढ़ते ही जा रहे हैं। 17 फरवरी 2014 को संसद में प्रस्तुत एक प्रतिवेदन में दिये गये आंकड़ों के अनुसार महिलाओं के विरूद्ध 2011 में 2.86 लाख अपराध दर्ज किये गये जबकि 2010 में यह संख्या 2.13 लाख थी यानी 7.1 प्रतिशत की बढ़ोतरी साल भर में हुई। कन्या भ्रूणहत्या जैसा जघन्य मानवाधिकार हनन किसी भी समाज के लिये लज्जा जनक है। बड़ी चिन्ता का तथ्य है शिक्षित परिवारों द्वारा इसमें शामिल होना। कानूनी प्रावधानों का हनन भी प्रशिक्षित डॉक्टरों द्वारा होता हैं अनेक राज्यों में लिंग अनुपात 900 से नीचे है तथा राष्ट्रीय स्तर पर यह 1000 : 940 हैं। संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था में इसे रोके जाने की सम्भावना अधिक रहती है। दूसरी तरफ यह भी सही है कि एक तिहाई बलात्कार 'जाने पहचाने' लोगों द्वारा ही किये जाते हैं। समाज शिक्षा का पक्ष कमजोर होने पर ऐसी

प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं। एक अन्य उदाहरण भी महत्वपूर्ण है उत्तर–पूर्व का एक राज्य एक बड़ी आशाजनक तस्वीर पेश करता हैं मिजोरम लगभग शतप्रतिशत साक्षरता की ओर पहुँचने वाला है या पहुँच गया हैं। इसके सरचिप जिले में साक्षरता दर भारत में सबसे अधिक 98.05 प्रतिशत हैं। यहाँ कन्या भ्रूणहत्या जैसी कोई समस्या नहीं हैं। इसके आइजल और सरचिप जिलों में पुरूष : स्त्री अनुपात 1000 : 1025 है जो सारे भारत में सबसे आगे है। यहाँ परिवार तथा उसके जुड़ाव का महत्व कम नहीं हुआ हैं। यहाँ एक परिवार के 158 सदस्य संयुक्त परिवार के बन्धन में सामन्जस्य तथा सद्भाव के साथ रहकर विश्व रिकार्ड स्थापित कर चुके हैं। इन स्थितियों के पीछे के कारकों का गहन अध्ययन आवश्यक है और उसे सारे देश को जानना चाहिये तथा जो उपयोगी तथा अनुकरणीय लगे उसे स्थानीय परिस्थितियों के आकलन के बाद अपनाना सम्भव होना चाहिए।

जनजाति तथा अनुसुचित जाति के लिये संविधान में आरक्षण की व्यवस्था की गई। इसे बिना अधिक समय लगाये सभी ने स्वीकार कर लिया था। इस पर बाद में भांति–भांति की राजनीति की जाने लगी। पिछड़े वर्ग की लिये आरक्षण हुये, अनेक अन्य वर्ग इसी में शामिल किये जाते रहे, जाट समुदाय अभी चुनाव के पहले शामिल किया गया। मुस्लिम सम्प्रदाय को आरक्षण के दायरे में केन्द्र सरकार लाना चाहती है और इसके लिये सर्वोच्च न्यायालय में गई है। कुल लब्बो लुबाव यह है कि चिन्ता इन वर्गों के मानवाधिकारों की नहीं; केवल अगले चुनाव तक सीमित कर दी जाती है। यदि ऐसा न होता तो देश में जनजातियों तथा वनवासियों की स्थिति आज भी गरीबी, भुखमरी, बीमारी से जकड़ी हुई न होती। जिन क्षेत्रों में यह बहुतायत से रहते हैं वहाँ तेजी से खनन माफिया पदार्पण करता रहा है तथा इनका, नेताओं तथा नौकरशाहों का जबरदस्त गठबन्धन यहाँ सक्रिय रहा है। लाखों करोड़ों लोग बेघर हुये, प्रताड़ित और पीड़ित हुये। अनुसूचित जाति तथा जनजाति के लिये आरक्षण से जो लाभ हुये, वे एक छोटे दायरे में पीढ़ी–दर–पीढ़ी सिमटते जा रहे हैं। इनमें से अधिकांश लोग विभिन्न योजनाओं तथा प्रावधानों का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। कुछ ऐसी ही स्थिति अल्पसंख्यकों के लिये बनाये गये विशेष प्रावधानों पर भी बनी हैं। वहाँ भी जो तैयारी सभी को शिक्षा में लाकर तथा जीवन कौशलों और उत्पादकता को प्रखर करने के प्रशिक्षण देकर किया जा सकता था, वह अपेक्षित गति तथा कर्मठता के साथ न किये जाने के कारण जो वर्ग अति पिछड़ा था, उस बड़े वर्ग का जीवन स्तर ऊपर नहीं उठ सका। रंगनाथ मिश्र कमेटी तथा सच्चर कमेटी ने जो सुझाव दिये, वे तुलनात्मक स्थिति का आंकड़ों के आधार पर निरूपण करते हैं, सुझाव देते हैं परन्तु ऐसा कुछ अधिक नहीं कहते हैं जो पहले से ज्ञात न रहा हो। आज मुस्लिम सम्प्रदाय का हर व्यक्ति हर स्तर पर शिक्षा के महत्व को पूरी तरह समझता है और उसके लिये प्रयत्नशील है। उसकी समस्या यह है कि सरकारी स्कूलों की साख अत्यन्त निचले

स्तर पर पहुँच चुकी है और प्रायवेट स्कूलों में बच्चों को शिक्षा देने में असमर्थ है। यदि बच्चों को ऐसे स्कूलों में पढ़ना पड़े, जहाँ अध्यापक न हों या पूरी तरह प्रशिक्षित तथा कर्मठ न हो, स्कूल का कार्य संस्कृति कमजोर हो तो यह सब भी मानवाधिकारों के हनन का उदाहरण ही माना जायेगा।

क्या करना आवश्यक है ?

1. परिवारों को अपने अधिकारों की जानकारी मिले तथा उन्हें यह भी बताया जाए कि ''सारा विश्व एक परिवार है'' तथा मानव मात्र की एकता का व्यवहारिक अर्थ क्या हैं परिवार किस प्रकार बच्चों को जाने–अनजाने अपने अन्तरमन में दूसरों के प्रति सम्मान निहित करा सकते हैं, कैसे वे सहिष्णुता तथा सामन्जस्य के मूल्यों को अपनाने को प्रेरित कर सकते हैं। परिवार ही सबसे पहले अन्य धर्मों, संस्कृतियों, नस्लों, भाषाओं, रंग भेद इत्यादि के अन्तर की समझ के साथ इनके आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव से दूर रहने की आवश्यकता समझा सकते हैं। जब कालजयी साहित्य लिखा जाता है तब वह विश्व की सम्पत्ति बन जाता है, कोई भेदभाव नहीं करता है। जब कम्प्यूटर चिप का अविष्कार होता है तब वह किसी के साथ कोई भेदभाव नहीं करता है। प्रकृति मनुष्य के साथ भेदभाव नहीं करती तब मनुष्य दूसरे मनुष्य से भेदभाव कैसे कर सकता है ? ऐसी समझ आवश्यक है। वसुधैव कुटुम्बकम का सोच ही सही जीवन दिशा दर्शाता है।

2. हाशिये के लागों को उनके मानवाधिकार तभी मिल पायेंगे, जब समाज का हर वर्ग मानवीय तथा नैतिक मूल्यों को व्यवहार रूप में अन्तर–निहित करे। मूल्यों के क्षरण से जो कठिनाइयाँ मनुष्य एवं प्रकृति के समक्ष उत्पन्न हो गई हैं उन्होंने भयावह रूप ले लिया है। अब सभी इस सबके दुष्परिणामों से परिचित हो गये हैं। आज भी व्यवहारिकता में छुआ–छूत, बाल–विवाह, कन्या भ्रूण हत्या, लिंग भेद जैसे अस्वीकार्य प्रचलन मूल्यों के ह्रास तथा अज्ञान के कारण पूरी तरह समाप्त नहीं हुये हैं। इन्हें जड़मूल से वही समाज नष्ट कर पायेगा जहाँ परिवार तथा शिक्षा शालायें प्रारम्भ से ही बालकों का विकास चरित्र निर्माण के ठोस आधार पर करेंगे।

3. प्रजातंत्र में प्रशासन व्यवस्था तथा अधिकारियों तथा जनता के आपसी सम्बन्ध आज भी सामन्तशाही व्यवस्था के प्रचलनों से मुक्त नहीं हो पाये हैं। शासक होने का अहम अधिकार प्राप्त लोगों को सामान्य जन के शोषण की ओर खींचता है, इन परिस्थितियों में नागरिक खीजता है और अपने को मजबूर तथा निरूपाय पाता है। यही पर भ्रष्टाचार जड़ें जमाता है। 'व्यवस्था बदलनी चाहियें' जैसे उद्बोधन लोगों को आकर्षित करते हैं। इस घुटन से लोगों को बाहर लाने का पहला उपाय तो व्यवस्था को स्वयं दिख जाना चाहिये : उसे अपनी जड़ता को

दूर फेंक कर समयानुसार अपना कलेवर बदलना चाहिये और अपनी गतिशीलता का विश्वास जन सामान्य में पैदा करना चाहिये। परस्पर विश्वास बनाना आवश्यक है। शहरीकरण, बड़े बाँध, खनन, औद्योगिकीकरण जैसे कारकों ने लाखों लोगों को विस्थापित किया, उनके अधिकार छीने और उन्हें अपने हाल पर छोड़ दिया। यह स्वयं एक प्रकार की हिंसा है और हिंसा से दूसरी तरफ से हिंसक व्यवहार की ही अपेक्षा होती है। अतः इस सब में दृष्टिकोण परिवर्तन अत्यावश्यक है।

4. चुनाव की प्रक्रिया में जो खामियाँ आ गई हैं वे अनेक प्रकार के भेदभाव कहे तथा बिना कहे पैदा कर रहे हैं। जाति तथा पन्थ के आधार पर मतों का विभाजन प्रेरित करना, देश के विघटन की दिशा में लगे तत्वों को बढ़ावा देता है। धन का अत्यधिक तथा अनावश्यक दुरूपयोग व्यक्ति के अहम् तथा आत्मसम्मान को नीचे लाता है, उसके स्वनिर्णय के अधिकार का छद्म उपायों से छीन लेता है। असामाजिक तत्वों का जन प्रतिनिधि बन जाना मानवाधिकारों का घोर हनन है और इसके ज्यादातर भुक्तभोगी हाशिये के लोग ही होते हैं।

5. विकास की अवधारणा देशज ही होनी चाहिये । वह बाहर से लाकर रोपित नहीं की जा सकती है और न बिना स्थानीय परिस्थितियों का विश्लेषण किये, कहीं से नकल कर देश में लागू की जा सकती है। अब हर व्यक्ति समझता है कि वर्तमान में विकास के नाम पर बनी नीतियाँ सम्पन्न को अधिक तेजी से सम्पन्नता के सोपान चढ़ाती हैं और बाकी लोग जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। झारखण्ड, छत्तीसगढ़, ओडिसा जैसे राज्य, जो प्राकृतिक खनिज सम्पदा से भरपूर हैं, आज भी गरीबी, भुखमरी तथा विपन्नता के शिकार हैं। वहाँ के संसाधनों से कितने ही गिने चुने लोग सम्पन्नता के शिखर पर जा बैठे हैं। इन प्रान्तों की बहुसंख्यक आबादी हाशिये पर है और प्रतीक्षारत है।

6. संचार माध्यमों की पहुँच अब महलों से झोपड़ियों तक निर्बाध तथा आवश्यक अंग के रूप में विद्यमान है। इनकी केन्द्रीयता अभी भी राजनीति, राजनेता, अभिनेता, धनी, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, वैभव, राष्ट्रों की वैमनस्यता इत्यादि के आस–पास घूमती है। इसमें वनवासी, दलित, पिछड़े, अल्पसंख्यक उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि पीछे छूट जाते हैं। अनेक प्रकरणों को उद्धृत किया जा सकता, जिनमें लोगों ने मीडिया की सक्रियता तथा उसकी ताकत को जाना और माना है। आज के तेजी से बदलते परिदृश्य में मीडिया हाशिये के लोगों का अत्यन्त प्रभावशाली सिम्बल बन सकता है। इसके लिये एक बड़े दृष्टिकोण परिवर्तन की आवश्यकता है।

7. सामाजिक संगठन परम्परागत ढंग से कई क्षेत्रों में कार्य करते रहे हैं, जिसमें विधवायें तथा निराश्रित महिलायें, परिवार–विहीन बच्चे, विकलांग बच्चे, असहाय वृद्ध जैसे लोग शामिल हैं। जब तक समाज इन्हें और सुदृढ़ नहीं करेगा, बच्चे बँधुआ मजदूर बनते रहेंगे, महिलाओं का शोषण बन्द नहीं होगा। गैर सरकारी संगठन, जो पारदर्शिता से कार्य कर सके और सत्ता के आकर्षण से बचे रह सकें, एक बड़ा उत्तरदायित्व निभा सकते हैं। अनेक बार संगठनों की कथनी और करनी में बड़ा अन्तर होता है। इसका ध्यान रखना अति आवश्यक है। गॉधी दर्शन में मानवाधिकारों की सर्वस्वीकार्यता तथा सार्वभौमिकता के व्यावहारिक समाधान उपलब्ध हैं। इन्हें यों समझा जा सकता है :

' प्रकृति के पास सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन और संसाधन उपलब्ध हैं परन्तु एक की लालच व लालसा की पूर्ति के लिये नहीं है।

'' जो भी कार्य प्रारम्भ करो, पहले यह सोचो कि यह पंक्ति के अन्तिम छोर पर खड़े व्यक्ति के लिये कितना उपयोगी होगा।

***यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का निर्वाह ईमानदारी से करे तो सभी को उनके अधिकार स्वतः ही मिल जायेंगे।

इस सोच को अन्तरनिहित करने वाली शिक्षा व्यवस्था ही साकार स्वरूप प्रदान कर सकती है।

जेल प्रबन्धन में मानवाधिकार*

#राजेश प्रताप सिंह, आई.पी.एस.

प्रस्तावना

मानवाधिकार एक आधुनिक शब्द है परन्तु इसका आधार सिद्धांत उतना ही पुरातन है जितनी मानवता। निसंदेह, मानव अस्तित्व के लिए कुछ अधिकार और स्वतंत्रता मूलभूत होती हैं। ये कोई विशेषाधिकार नहीं हैं और न ही किसी शासक अथवा किसी सरकार की कृपा के उपहार हैं। किसी व्यक्ति ने कोई अपराध किया है अथवा कानून तोड़ा है, इस आधार पर उसे मानवाधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

प्रारम्भ में इन अधिकारों का कोई कानूनी आधार नहीं था अपितु इन्हें नैतिक अधिकार समझा जाता था। धीरे–धीरे इन अधिकारों को मान्यता मिली और कानूनी संरक्षण प्राप्त हो गया। देश के संविधान में इनको प्रायः अधिकार पत्र के रूप में स्थान मिलने लगा जिसे कोई सरकार अस्वीकार नहीं कर सकती थी। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र न्यायालयों की स्थापना हुई जिनमें ऐसे व्यक्ति न्याय पा सकते थे, जिनके अधिकारों का हनन हुआ हो।

1930 के दशक में मानवाधिकारों और स्वतंत्रता का व्यापक हनन हुआ और 1939 व 1945 के दौरान चले विश्वयुद्ध में इस हनन की चरमसीमा थी। इससे यह अवधारणा समाप्त हो गई कि किसी देश को अपने नागरिकों के साथ बरताव करने के बारे में एक मात्र अधिकार प्राप्त है। जून, 1945 में राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर हो जाने के साथ ही मानवाधिकार अंतरराष्ट्रीय कानूनों की परिधि में आ गए। राष्ट्र संघ के सभी सदस्य देश मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए उपाय करने हेतु सहमत हो गए।

सरकार के दिन–प्रतिदिन के कार्य संचालन में मानवाधिकारों के मुद्दों और दायित्वों को अब महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। हाल के वर्षों में कई देशों ने काफी संख्या में मानवाधिकारों के कानूनों की अभिपुष्टि की है तथा विभिन्न प्रकार के मानवाधिकारों को प्रोत्साहित करने और संरक्षण देने को अंतराराष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत बाध्यकारी बना दिया है।

मानवाधिकार अनिवार्य हैं। यह सभी व्यक्तियों को बिना अपवाद के प्राप्त होने चाहिए।

---

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (राजकोट) में पढ़ा गया आलेख।

#अपर पुलिस महानिदेशक/महानिरीक्षक कारागार, उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

- **कारागारों का अस्तित्व क्यों है और उनका लक्ष्य क्या है?**

कुछ समाजों में कारागार कई शताब्दियों से अस्तित्व में है। सामान्यतया वे ऐसे स्थान थे जहाँ पुरूष और महिलाओं को तब तक बंदी बनाकर रखा जाता था, जब तक कि कानूनी प्रक्रिया प्रारम्भ नहीं हो जाती थी। वे मुकदमे के लिए फाँसी के लिए अथवा देश निकाले के लिए या फिरौती, जुर्माना अथवा ऋण के भुगतान के लिए प्रतीक्षारत हो सकते हैं। कभी–कभी ऐसे व्यक्ति, जो स्थानीय शासक अथवा राज्य के लिए खतरा बन जाएँ, उसे काफी लम्बे समय तक अपनी स्वतंत्रता से वंचित रहना पड़ता था। 8वीं शताब्दी में पश्चिम यूरोप और उत्तरी अमेरिका में न्यायालय के दण्ड के तौर पर कैद का प्रत्यक्ष उपयोग आरंभ किया गया था। उपनिवेशवादी दमन के दौरान धीरे–धीरे यह सभी देशों में फैल गया।

कारावास के प्रयोजन के बारे में कई वर्षों से लगातार बहस चल रही है जो अब भी जारी है। कुछ समीक्षकों का तर्क है कि इनका उपयोग केवल अपराधियों को दंडित करने के लिए किया जाना चाहिए। कुछेक का विचार है कि इसका मुख्य प्रयोजन उन व्यक्तियों के मन में भय पैदा करना है ताकि वे फिर से कोई अपराध न करें। साथ ही, उन व्यक्तियों के मन में भी भय पैदा करना है जो अपराध की ओर प्रवृत्त हो रहे हों। दूसरा सुझाव यह है कि लोगों को कारावास में इसलिए भेजा जाता है कि उनमें सुधार हो और उनका पुनर्वास हो सके। अर्थात जिस अवधि के लिए वे कारावास में रहते हैं, वे महसूस करें कि अपराध करना गलत है और वे ऐसे कौशल सीख सकें जिससे रिहा होने के पश्चात वे कानून का पालन करने वाले व्यक्ति के रूप में जीवन बिता सकें। कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं कि लोगों को कारावास में इसलिए भेजा जाता है कि उन्होंने जो अपराध किया है वह वर्तमान में लोक सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर सकता है।

आजकल एक व्यापक विचारधारा है कि कारागार एक खर्चीला अंतिम उपाय है जिसका उपयोग केवल तभी किया जाए जब न्यायालय को यह स्पष्ट हो जाए कि गैर अभिरक्षात्मक दंडादेश उपयुक्त नहीं रहेगा।

मानवाधिकार की आवश्यकता क्यों

जीवन का अर्थ वह जीवन है, जिसकी प्रतिष्ठा व गरिमा का महत्व हो। यह प्रतिष्ठा और गरिमा ही मानव अधिकार के रूप में परिभाषित है।

मानव अधिकार अप्रतिबन्धित है जो समस्त मनुष्यों को सामान्य रूप से उपलब्ध होने चाहिये। कारागार में प्रवेश मात्र से ही कोई मानव, मानव होने का दर्जा नहीं खो देता है। कारागार में बंदी सजा होने के फलस्वरूप जाता है, न कि सजा के लिए। कैदियों को आम नागरिकों की भांति मौलिक अधिकार हैं, सिर्फ कैदी होने के कारण कुछ अधिकार सीमित हो जाते हैं। दुर्व्यवहार एवं प्रताड़ना किसी भी कैदी को एक कठोर अपराधी बना सकता है। ऐसा व्यवहार समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

वास्तव में कोई व्यक्ति जन्मजात अपराधी नही होता, अपराध समाज की विफलता का दर्पण है, बंदियों को मानवाधिकार प्रदान कर समाज अपनी विफलता की प्रतिपूर्ति करता है तथा बंदियों के समाजीकरण को सुनिश्चित करता है।

● कानून प्रवर्तन में मानव अधिकारों के स्रोत, प्रकिया एवं मानक उद्देश्य : अनिवार्य सिद्धांत

अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकार, कानून प्रवर्तन अधिकारियों सहित सभी राज्यों और उनके ऐजेंटों के लिए बाध्यकारी हैं। अंतरराष्ट्रीय कानूनों और अंतरराष्ट्रीय संवीक्षा के लिए मानव अधिकार एक विधि सम्मत विषय हैं। कानून प्रवर्तन अधिकारी मानव अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय मानकों को ज्ञात करने तथा उन्हें लागू करने के लिए बाध्य हैं।

क. अंतरराष्ट्रीय मानकों की प्रासंगिकता–

संयुक्त राष्ट्र संघ के अधीन कई संस्थाओं ने कानून परिवर्तन में मानव अधिकारों से सम्बन्धित अन्तरराष्ट्रीय मानकों को प्रख्यापित किया है। इन संस्थाओं में अग्रिणी संस्थाएं हैं– मानव अधिकार आयोग, भेद–भाव निवारण और अल्प संख्यक संरक्षण संबंधी इसका उप आयोग और अपराध निवारण और अपराधियों से व्यवहार संबंधी पीरियोडिक यूनाईटेड कांग्रेस। जनरल असेम्बली और आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा इन मानकों को स्वीकारने पर संयुक्त राष्ट्र के दो प्रमुख अंगों ने उन पर सार्वभौमिकता की छाप लगा दी अर्थात अंतरराष्ट्रीय समुदाय ने इन्हें न्यूनतम कानून प्रवर्तन नियम के रूप में स्वीकार किया है, भले ही सदस्य देशों के अपने कानून ही क्यों न हों।

सिविल और राजनैतिक अधिकारों के लिए अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा

आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के लिए अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा।

बाल अधिकार संबंधी कन्वेशन।

जनसंहार अपराध निवारण और दंड संबंधी कन्वेशन।

संयुक्त राष्ट्र का घोषणा पत्र उन सभी सदस्य राष्ट्रों के लिए कानूनी तौर पर बाध्यकारी संधि है जो इसके पक्षकार हैं। संगत सम्मेलनों के साथ–साथ विवेचित विभिन्न घोषणाओं, मार्गदर्शन और न्यूनतम नियमों के व्यावहारिक मूल्यांकन को केवल शैक्षिक कानूनी तर्कों के आधार पर अनदेखी नहीं करना चाहिए। इस कथन के कम से कम तीन मुख्य कारण हैं–

(क) ये गैर संधि दस्तावेज मुख्य कानूनी प्रक्रिया और संस्कृति की साझी मान्यताओं को दर्शाते हैं।

(ख) लिखित संधियां ही केवल बाध्यकारी नियमों की स्रोत हैं। उनके अंतरराष्ट्रीय मूल और राष्ट्रीय विधि में उनकी व्यापक स्वीकृति के कारण घोषणाओं के उपबंधों,

सिद्धांतों को कानूनी शिक्षाविदों ने अंतरराष्ट्रीय न्यायालय की सांविधि द्वारा मान्यता प्राप्त विधि का एक स्रोत है।

(ग) बाध्यकारी संधियों में यथानिर्धारित मानक कभी–कभी राष्ट्रों को उनके मानकीय मूल्यों के चुनने और कार्यान्वयन के स्तर पर व्यवहारिक नहीं होते हैं। अतः राष्ट्रीय स्तर पर अंतरराष्ट्रीय मानकों को लागू करने में राष्ट्र को अधिक विस्तृत शब्द विवरण, मार्गदर्शन, सिद्धांत, न्यूनतम नियम महत्वपूर्ण विधिक पूरक उपलब्ध कराती हैं।

मूल स्रोत

1. संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा पत्रः

अनुच्छेद–1 :घोषणा पत्र का पैरा 3 इस सिद्धांत को प्रमाणित करता है कि निम्नलिखित में अंतरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाए :–

– मानव अधिकारों को जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म का भेदभाव किए बिना सभी की मौलिक स्वतंत्रता के प्रति आदरभाव का समर्थन करना व उसे प्रोत्साहित करना।

इन्हें मात्र सिद्धांतों के रूप में ही नहीं देखा जाना चाहिए घोषणा, पत्र सभी सदस्य राष्ट्रों (जो कि इसके पक्षकार हैं) के लिए विधिक रूप से बाध्यकारी संधि है। इन उपबंधों का स्थायी कानूनी प्रभाव है। यह एक विवादरहित तथ्य है कि कारागार अधिकारी इन नियमों से आबद्ध हैं।

अनुच्छेद–1

2. मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा

सार्वभौम घोषणा वर्ष 1948 में अंतरराष्ट्रीय समुदायों द्वारा उठाए गए महत्वपूर्ण कदम को दर्शाती है। इसकी प्रभावी नैतिक विशेषता इस बात से पता चलती है कि इसे सामान्यतः अंतरराष्ट्रीय मापदण्डों के दस्तावेज के रूप में स्वीकार किया गया है। मानव अधिकारों के उद्देश्यों की यह रूप रेखा एक व्यापक और सामान्य शब्दों में तैयार की गई है और यह अन्य दो दस्तावेजों को मानव अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय विधेयक के रूप में लाने के लिए स्रोत अस्थायी ढाँचे का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त सार्वभौम घोषणा पत्र संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में उदघोषित मौलिक

अधिकारों का उल्लेख करता है और उन्हें परिभाषित करता है। सार्वभौम घोषणा के अनुच्छेद 3,5,9 व 11 न्याय प्रशासन के लिए विशेष महत्व रखते हैं। इन अनुच्छेदों में क्रमशः जीने का अधिकार, व्यक्ति की सुरक्षा और स्वतंत्रता, यातना और निर्ममता का निषेध, अमानवीय और निम्न कोटि का व्यवहार व दण्ड, मनमानी गिरफ्तारी का निषेध, उचित विचारण का अधिकार दोषसिद्ध होने तक निर्दोष माने जाने का अधिकार और

दण्डनीय उपायों का निषेध निहित है। हालांकि ये अनुच्छेद कानून परिवर्तन के लिए सबसे उपयुक्त है, फिर भी सार्वभौम घोषणा कारागार अधिकारियों के लिए मार्गदर्शन प्रस्तुत करती है।

3. संधियां, प्रसंविदा एवं सम्मेलन (कंवेंशन)

सिविल और राजनैतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा

उपर्युक्त अधिकारों की अंतर्वस्तु का आगे और विस्तार किया गया है जब मार्च 1976 में सिविल और राजनीतिक अधिकारों की अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा को लागू किया गया है। अनुच्छेद 6,7,9,11,14 एवं 15 प्रसंविदा में जीने के अधिकार, यातना का निषेध, मनमानी गिरफ्तारी अथवा निरूद्धता का निषेध, संविदा बाध्यताओं को पूरा करने में असमर्थ होने पर कारावास का निषेध, उचित विचारण का अधिकार। यह प्रसंविदा 100 से अधिक राष्ट्रों, जो इसके पक्षकार हैं, के लिए कानूनी तौर पर एक बाध्यकारी दस्तावेज हैं, जिसका कारागार अधिकारियों सहित सरकार और उसकी संस्थाओं द्वारा सम्मान किया जाना चाहिए। इसका निरीक्षण मानव अधिकार समिति द्वारा किया जाता है, जिसकी स्थापना प्रसंविदा की शर्तों के अधीन की गई है।

आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा

आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों की उस अंतरराष्ट्रीय प्रसंविदा का उल्लेख किए बिना आगे बढ़ना भूल होगी जो जनवरी, 1976 में प्रवृत्त हुई। इसके मुख्य कारण हैं–

(क) कानून हवा में लागू नहीं हो जाता। कारागार अधिकारियों को उन लोगों की मौजूदा आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर अपने कर्तव्यों को पूरा करना चाहिए। जिसकी सेवा व सुरक्षा की उन्होंने शपथ ली है।

(ख) यह धारण गलत है कि आर्थिक एवं सामाजिक अधिकार एक सेट के रूप में कारागार अधिकारियों के रोजमर्रा के कार्यों से सुसंगत नहीं है। प्रत्यक्षतः सुसंगत आर्थिक अधिकारों के स्पष्ट उदाहरण हैं– गैर–विभेदी एवं मौलिक श्रम मानक।

(ग) दो प्रसंविदाओं के अधीन संरक्षित अधिकारों के दोनों सेटों को समान और एक दूसरे पर निर्भर होने के रूप में सार्वभौमिक रूप में मान्यता प्राप्त है।

सिद्वान्त, न्यूनतम नियम तथा घोषणाए

कानून प्रवर्तन अधिकरियों के लिए आचार संहिता

दिसंबर 1979 में जनरल असेम्बली ने कानून प्रवर्तन अधिकारियों के लिए आचार संहिता अपनाई थी। यह आचार संहिता 08 मौलिक अनुच्छेदों से तैयार की गई है जिसमें समुदाय की सेवा, मानव अधिकारों का संरक्षण, बल का प्रयोग, गोपनीय सूचना के

विवेचन, यातना और क्रूरता का प्रतिषेध, अमानवीय व तिरस्कारपूर्ण व्यवहार, दंड, निरूद्ध व्यक्तियों के स्वास्थ्य का संरक्षण, भ्रष्टाचार और कानून और संहिता के आदर, के संबंध में कानून प्रवर्तन अधिकारियों की विशिष्ट जिम्मेदारियां निर्दिष्ट की गई हैं। प्रत्येक अनुच्छेद की विस्तृत व्याख्या की गई है। यह संहिता एक ऐसा मापदंड है जिसके माध्यम से अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा कारागार कर्मियों के व्यवहार का अंदाजा लगाया जा सकता है।

किसी भी प्रकार के कारावास अथवा निरूद्धता के अधीन सभी व्यक्तियों के संरक्षण संबंधी मूल सिद्धांत––(1988)

बंदियों से व्यवहार संबंधी मानक न्यूनतम नियम––(1955)

बंदियों से व्यवहार संबंधी मूल सिद्धांत–(1998)

ये तीनों दस्तावेज बन्दियों के अधिकारों के संरक्षण के लिए व्यापक सुरक्षोपाय करते हैं। कारावास के अधीन बंदियों के संरक्षण सम्बन्धी अधिकार के सिद्धांतों को दिसम्बर, 1988 में जनरल असेम्बली द्वारा स्वीकार किया गया था। मानक न्यूनतम नियम, प्रथम संयुक्त राष्ट्र संघ कांग्रेस की 1955 में जिनेवा में अपराध निवारण और अपराधियों से व्यवहार करने संबंधी हुई बैठक में स्वीकार किए गए थे और बाद में आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा अनुमोदित किए गए थे। बंदियों से व्यवहार सम्बन्धी मूल सिद्धांतों को दिसम्बर, 1990 में जनरल असेम्बली द्वारा स्वीकार किए गए।

ये दस्तावेज किसी कारागार की व्यवस्था के लिए आधार प्रदान करते हैं। संक्षेप में उनमें दिया गया है कि सभी कैदियों व निरूद्ध व्यक्तियों के साथ उनकी निरूद्धता की शर्तों, व्यवहार एवं अनुशासन, बाहरी दुनिया से उनका संपर्क, स्वास्थ्य, विभिन्न श्रेणीयों में वर्गीकरण, शिकायतों के समाधान, अभिलेखों, काम एवं मनोरंजन, धर्म एवं संस्कृति के संबंध में उनकी मानवीय गरिमा का सम्मान करते हुए व्यवहार किया जाना चाहिए।

शक्तियों के दुरूपयोग एवं अपराध से पीड़ित व्यक्तियों के लिए न्याय के मूल सिद्धांतों की घोषणा

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने विधायी कार्यकलापों में अपराधों के पीड़ित व्यक्तियों के अधिकारों के महत्वपूर्ण मुद्दे को भी शामिल किया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नवम्बर, 1985 में जनरल असेम्बली ने शक्ति के दुरूपयोग एवं अपराध के पीड़ित व्यक्तियों के लिए न्याय के मूल सिद्धांतों की घोषणा को स्वीकार किया था। इस घोषणा में यह अपेक्षा की गई है कि राष्ट्र यह सुनिश्चित करे कि अपराध के पीड़ित व्यक्ति न्याय पाने के अधिकारी हैं और विधिक तंत्र द्वारा उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया जाये तथा मुआवजा प्रदान किया जाये। अपराध के पीड़ित व्यक्तियों को चिकित्सा, आर्थिक,

मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सहायता प्रदान की जाये।

मृत्युदंड का सामना करने वाले व्यक्तियों के अधिकारों के संरक्षण का आश्वासन देने वाले सुरक्षोपाय–

मृत्युदंड का सामना करने वाले व्यक्ति के संरक्षण का आश्वासन देने वाले सुरक्षोपायों को आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा मई, 1984 में अनुमोदन किया गया था। इसमें उन अपराधों की किस्म को सीमित किया गया था जिसमें मृत्युदंड दिया जा सकता है, केवल गंभीर अपराधों को इस कोटि में रखा गया था और उन व्यक्तियों के लिए जो अपराध के समय नाबालिग थे तथा गर्भवती महिलाओं, कम उम्र की माताओं और पागलों के लिए इस दंड पर प्रतिषेध लगाया गया था। यह अपेक्षा की गई थी कि यदि मृत्युदंड दिया जाता है तो इसे इस तरीके से दिया जाए कि कष्ट कम से कम हो।

अभिरक्षा से भिन्न उपायों के लिए न्यूनतम मानक नियम–

अभिरक्षा से भिन्न उपायों के व्यापक रेंज के उपबंध के लिए राष्ट्रों को प्रोत्साहित करने के लिए अभिरक्षा से भिन्न उपायों के न्यूनतम मानक नियमों (टोकियो नियम) को संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल एसेम्बली में दिसम्बर, 1990 में स्वीकार किया था। दंड न्याय के प्रबंधन में ऐसे उपायों से सामुदायिक भागीदारी में वृद्धि हुई और न्याय प्रक्रिया को समर्थन प्राप्त हुआ साथ ही कारावास के प्रयोग में कमी आईं। टोकियो नियमों के अन्तर्गत इन उपायों में मानव अधिकार और अपराधियों के पुनर्वास, सामाजिक, संरक्षण एवं पीड़ित व्यक्तियों के हित को ध्यान में रखना चाहिए। इन नियमों से स्थाई अथवा सशर्त रिहाई, पैरोल, दंड का परिहार, क्षमा, सामुदायिक सेवा, आर्थिक मदद इत्यादि के प्रयोग के लिए मार्गदर्शन मिलता है।

किशोर अपचारिता निवारण के संबंध में संयुक्त राष्ट्र संघ के दिशा–निर्देश (रियाद दिशा–निर्देश)

किशोर न्याय प्रशासन के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के मानक न्यूनतम नियम (बेजिंग नियम)

स्वतंत्रता से वंचित किशोरों के संरक्षण के लिए नियम संयुक्त राष्ट्र संघ के

ये तीनों दस्तावेज, बाल अपराध संबंधी कन्वेंशन के साथ किशोर न्याय प्रशासन के सुसंगत मूल मानकों का आधार बने। कन्वेंशन की तरह इन दस्तावेजों में (दिसम्बर, 1990, नवम्बर, 1985 एवं दिसम्बर, 1990 में जनरल एसेम्बली द्वारा अंगीकृत) से यह अपेक्षा की जाती है कि राष्ट्रीय विधिक तंत्र को इन किशोरों की नाजुक किशोर अवस्था को ध्यान में रखना चाहिए, जिन्होंने कानून का उल्लंघन किया है और वे इस केन्द्रीय सिद्धांत के आधार पर निवारण और व्यवहार करते हैं कि बच्चे

का सर्वाधिक हित हो। इसलिए किशोर न्याय के क्षेत्र में की जाने वाली सभी कार्रवाइयों के संबंध में मार्गदर्शन किया जाए।

विधि से भिन्न मनमाने एवं संक्षिप्त निष्पादन संबंधी सिद्धांत–

राष्ट्रों के लिए विधि से भिन्न मनमाने एवं संक्षिप्त निष्पादन की कारगर रोकथाम और जाँच पड़ताल संबंधी सिद्धांतों की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद द्वारा मई, 1989 में संस्तुति की गई थी। ये सिद्धांत ऐसे अपराधों की जाँच पड़ताल और उनकी रोकथाम के लिए और अपराधियों को न्याय दिलाने के लिए विधिक कार्रवाईयों के संबंध में कानून प्रवर्तन एवं अन्य राष्ट्रीय प्राधिकरणों का मार्गदर्शन करते हैं। इस सिद्धांत में कानून प्रवर्तन एजेंसियों पर कमांड की स्पष्ट कड़ी सहित कड़ा नियंत्रण तथा सावधानीपूर्वक रिकार्ड रखने, जांच तथा निरूद्धता के संबंध में उनके परिवारों एवं कानूनी प्रतिनिधियों को अधिसूचना देना सुनिश्चित करने के महत्व पर बल दिया गया है। इसमें पीड़ित व्यक्तियों के साक्षियों व परिवार के सदस्यों के संरक्षण और विश्वसनीय साक्ष्यों को सावधानीपूर्वक एकत्र करने और उन पर विचार करने की अपेक्षा की गई है। इस सिद्धांत में जीने के अधिकार की गारंटी मानव अधिकार संधियों की व्यवस्थाओं का प्रामाणिक विवरण दिया गया है।

भारतीय परिदृश्य में मानव अधिकार प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति का अंग रहे हैं। भारतीय संविधान उद्घोषणा ही भारत के समस्त नागरिकों को मानव अधिकारों को दिये जाने की पुष्टि करती है। इसके अतिरिक्त मौलिक अधिकार एवं राज्यों के लिए दिशा निर्दिष्ट सिद्धांत नागरिकों को मानव अधिकार प्रदान किये जाने का मजबूत आधार है। मूल अधिकार के अन्तर्गत अनुच्छेद–14 विधि के समक्ष समानता एवं समान विधिक संरक्षण का अधिकार। अनुच्छेद–15 के अन्तर्गत धर्म, जाति, नस्ल, लिंग, जन्मस्थान के आधार पर विभेद किये जाने को प्रतिबंधित करता है। अनुच्छेद–20,22 (4–7), अनुच्छेद–32 तथा राज्यों के दिशा–निर्देशों के अन्तर्गत निःशुल्क विधिक सहायता (अनुच्छेद–39) तथा अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकार की संविदा का अनुपालन किया जाना (अनुच्छेद 51) तथा अनुच्छेद–38 के साथ–साथ निम्नलिखित अधिनियमों में भी मानव अधिकार सुनिश्चित किये जाने के सम्बन्ध में प्रावधान रखे गये हैं।

1. प्रिजन्स एक्ट, 1894
2. प्रिजन्स एक्ट, 1900
3. बंदी पहचान अधिनियम, 1950
4. मानसिक स्वास्थ्य अधिनियम, 1987
5. दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1972

6. भारतीय दण्ड संहिता, 1861

7. किशोर न्याय अधिनियम, 2002

कारागारों की स्थिति के सम्बन्ध में बनायी गयी विभिन्न समितियां यथा– भारतीय जेल समिति 1919–20, अखिल भारतीय जेल मैनुअल समिति 1957 कारागारों पर कार्यकारी समूह 1972 तथा अखिल भारतीय जेल सुधार समिति (मुल्ला समिति) 1980–83 द्वारा भी कारागारों में मानव अधिकार सुनिश्चित किये जाने के सम्बन्ध में संस्तुति की।

कारागारों में मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु मुख्य बिन्दु

क. मानवीय गरिमा का संरक्षण

(1) बंदियों से कारागार में प्रवेश से मुक्ति तक मानवोचित एवं गरिमामय व्यवहार किया जाना चाहिए।

(2) बंदियों के साथ किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक उत्पीड़न किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं है।

(3) प्रवेश के समय से ही बंदी को कारागार के नियमों, उनके अधिकार, कर्तव्य तथा उसके विधिक अधिकार एवं विधिक सहायता के बारे में अवगत करा देना चाहिए।

(4) कारागारों में स्वच्छता, बंदियों के वस्त्र, खान–पान एवं शारीरिक व्यायाम की उचित सुविधा मिलनी चाहिए।

ख. स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्था

(1) स्वास्थ्य के देख–भाल की उचित व्यवस्था।

(2) बीमारी एवं जाँच की उचित व्यवस्था।

(3) उचित एवं प्रशिक्षित स्टाफ की तैनाती।

ग. बंदियों को मानवाधिकारों के संरक्षण के अन्तर्गत कारागारों को निम्नलिखित बिन्दुओं पर महत्व दिया जाना आवश्यक है:–

(1) आवासीय

(2) स्वच्छता एवं सफाई

(3) व्यायाम एवं शारीरिक दक्षता

(4) स्वास्थ्य की उचित व्यवस्था एवं नियंत्रण

(5) कार्य एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण

(6) शिक्षा

(7) सांस्कृतिक गतिविधियाँ

(8) धार्मिक गतिविधियाँ

(9) पत्राचार, मुलाकात एवं बाहरी जगत से सम्पर्क की उचित व्यवस्था

(10) गृह अवकाश व पैरोल आदि की सुविधा

(11) शिकायतों का त्वरित एवं उचित निस्तारण

(12) विधिक सहायता

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग व कारागार

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग नागरिकों के मानव अधिकारों का संरक्षण व संवर्धन का कार्य करते हुए लोकतंत्र की रक्षा कर रहा है, जिससे देश के समस्त नागरिकों के अधिकारों के हित की रक्षा हो रही है। आयोग द्वारा राज्य और उसके अभिकरणों को उन कृत्यों, भूलों, या लापरवाही की ओर ध्यान दिलाकर मानवाधिकारों के उल्लंघन के मामले सतत संज्ञान में लेते हुए प्रभावी कार्यवाही की गई है, जिससे व्यक्ति के जीवन की स्वतंत्रता और गरिमा की रक्षा के साथ–साथ देश की एकता और अखंडता का संरक्षण और संवर्धन भी हो रहा है।

कारागारों में बंदियों के मानवाधिकार आयोग के संरक्षण व संवर्धन के लिए आयोग द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जा रही है। आयोग द्वारा यह स्पष्ट रूप से निर्धारित किया गया है। बंदियों को जेल में रखने का उद्देश्य उनको अपराध करने से रोकना, सुधारना मात्र है न कि सजा देना। आयोग ने कारागारों में यातना, किसी भी प्रकार की क्रूर और अपमानजनक व्यवहार में पूर्ण निषेध किये जाने पर बल दिया है।

आयोग द्वारा कारागारों में विचाराधीन बंदियों के मामले में लम्बित मामलों का तत्काल निपटारा, बंदियों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में प्रवेश से लेकर मुक्ति तक प्रभावी एवं उचित कार्यवाही किया जाता है। साथ ही मानसिक रोग ग्रसित बंदियों का उचित उपचार, कारागार भवनों को ठीक कराना व उनका रख–रखाव करना, जेलों में अस्वच्छता व गंदगी पर रोक, जमानत की श्योरिटी के सम्बन्ध में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने, बंदियों को विधिक सहायता उपलब्ध कराने, बंदियों के मृत्यु की दशा में पीड़ित परिवारजनों में मुआवजा दिलाने तथा बंदियों की समयपूर्व रिहाई, मुक्ति के लिए एक समान नीति बनाने, न्यायिक अधिकारियों द्वारा नियमित निरीक्षण आदि के क्षेत्र में प्रभावशाली एवं उल्लेखनीय कार्य किया है। आयोग ने कारागारों में रह रही महिला कैदियों तथा उनके साथ रह रहे बच्चों की स्थिति के सुधार में भी उल्लेखनीय कार्य किया है।

उत्तर प्रदेश सर्वाधिक जनसंख्या वाला राज्य है। यहाँ बंदी जनसंख्या भी देश में सर्वाधिक है। जनवरी 2013 की स्थिति के अनुसार प्रदेश के 65 कारागारों में 47,518 क्षमता के विरूद्ध 80,019 बंदी निरूध थे, जिसमें 67 प्रतिशत विचाराधीन बंदी थे।

कारागारों की क्षमता बढाने के लिए नई जेलों का निर्माण तथा पुराने कारागारों में बैरक का निर्माण कराया जा रहा है।

आयोग के निर्देश से विचाराधीन बंदियों दण्ड प्रकिया संहिता की धारा 436 ए तथा 436(1) के अन्तर्गत 25000 बंदियों को लाभान्वित किया गया। इसके अतिरिक्त बंदियों को नियमित निःशुल्क विधिक सहायता भी उपलब्ध करायी जा रही है। समस्त बंदियों को उचित चिकित्सा व्यवस्था उपलब्ध है।

बंदियों को शिक्षित करने के साथ–साथ प्रमाण पत्र दिलाये जाने की व्यवस्था की गयी है। जिसके अन्तर्गत बेसिक शिक्षा विभाग व माध्यमिक शिक्षा विभाग ने बंदियों का कारागार में ही पंजीकरण कर, शिक्षा सामग्री उपलब्ध कराने तथा कारागार में ही परीक्षा कराकर प्रमाण पत्र उपलब्ध कराने के शासनादेश कर दिये गये है। वर्ष में कक्षा 5 से 12 तक के 3000 बंदी लाभान्वित हुये। 07 कारागारों में इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविधालय के केन्द्र संचालित हैं।

चिकित्सा हेतु मेडिकल कालेज, पी0जी0आई0 भेजने के लिए समस्त कारागारों पर एम्बुलेंस उपलब्ध करायी गयी है। कारागारों में नियमित चिकित्सीय शिविर लगाये जाने की व्यवस्था की गयी है।

बंदियों को नियमित व्यवसायिक प्रशिक्षण दिया जा रहा है तथा कुशल, अर्द्धकुशल, अकुशल बंदी श्रमिकों के लिये पारिश्रमिक दर रूपया 40/–, 30/– एवं 25/– की गयी है।

उत्तर प्रदेश के कारागारों में बंदियों की मृत्यु दर विगत 03 वर्षों में 3.93, 3.42 व 4.43 रही है, जो कि सामान्य से कम है। उत्तर प्रदेश शासन द्वारा मा0 आयोग के निर्देशों पर वित्तीय वर्ष 2010–11 में रूपया बान्नबे लाख, साठ हजार तथा वित्तीय वर्ष 2011–12 में रूपया सत्तर लाख का वितरण पीड़ित के परिजनों को मुआवजा के रूप में कराया गया है।

उपसंहार–

इस आशय से जो मूल संदेश मिलता है वह यह है कि मानव अधिकार राष्ट्रों और इसके प्रतिनिधियों के पूर्ण अधिकार क्षेत्र के अंदर आने वाले विषय नहीं है, बल्कि वे अंतरराष्ट्रीय समुदाय के वैधानिक चिंतन के विषय हैं, जो मानकों को निर्धारित करने, कार्यान्वयन तंत्र को स्थापना और मानकों के अनुपालन का मानीटर करने में आधी शताब्दी से लगा है। कानून प्रवर्तन अधिकारियों एवं एजेंसियों को अपना मुख्य कार्य इस

प्रकार करना चाहिए, जिससे मानव अधिकारों का आदर व संरक्षण हो और जिससे न केवल अपना सम्मान हो बल्कि उस सरकार राष्ट्र का भी सम्मान हो, जिसने उन्हें नियुक्त किया है। वे लोग जो मानव अधिकारों का उल्लंघन करते हैं, अंततः अतंरराष्ट्रीय जांच के केन्द्र बनते हैं और अतंरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा उनकी भर्त्सना की जाती है। अतः एक सच्चे कानून प्रवर्तन अधिकारी को चुनौती है कि वह हर समय मानव अधिकार संबंधी कानून का प्रवर्तन करे और उसे बरकरार रखे।

आतंकवाद, पुलिस एवं मानवाधिकारः एक विहंगावलोकन *

#डॉ0 कुँवर विजय प्रताप सिंह

1. परिचय

आतंकवाद एक असामान्य व असहज परिस्थिति है जिसमें पूर्व नियोजित षड्यन्त्र के द्वारा गैर कानूनी बल का प्रयोग किया जाता है और आमजनता व सरकारी तंत्र को निशाना बनाया जाता है। इस प्रक्रिया में व्यापक तौर पर मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है। आतंकवाद से निपटने की जिम्मेदारी पुलिस को दी जाती है। पुलिस के पास इस असामान्य स्थिति से निपटने का कोई मानक सूत्र (Standard Formula) नहीं होता। ऐसी स्थिति में पुलिस परिस्थितिजन्य कदम उठाती है। इस कड़ी में पुलिस कर्मियों को आतंकवादियों द्वारा निशाना बनाया जाता है। यहाँ तक कि उनके परिजनों व सगे–संबंधियों को भी नहीं छोड़ा जाता। पुलिस पर भी आतंकियों के मानवाधिकारों के उल्लंघन के आरोप लगाये जाते है। आतंकियों की मदद के लिए कुछ निजी मानवाधिकार संगठन पुलिस के खिलाफ षड्यन्त्र करने लगते हैं। यह आलेख निम्नलिखित तीन प्रकार के मानवाधिकारों पर केन्द्रित होगा :–

(i) आम जनता के मानवाधिकार

(ii) आतंकवादियों के मानवाधिकार

(iii) पुलिसकर्मियों के मानवाधिकार

2. पुलिस एवं मानवाधिकार

पुलिस सरकार का एक महत्वपूर्ण अंग है जिसे मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए बनाया गया है। यह सबसे ज्यादा दृष्टिगोचर और शक्तिशाली अंग है। पुलिस को जो शक्ति प्रदान की गई है, उसका मकसद आम व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करना है। लेकिन दुःख की बात है कि हमारी पुलिस का ढाँचा औपनिवेशिक बुनियाद पर टिका हुआ है यह एक लोक–कल्याणकारी राज्य और इसके नागरिकों की जरूरतों के अनुसार नहीं है।

भारतीय पुलिस की संरचना मिलिट्री पैटर्न पर की गई थी, जिसका उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की बुनियाद को मजबूत करना था। आजादी के 66 वर्ष बीत जाने पर भी भारतीय पुलिस की बुनियादी संरचना और कार्य–प्रणाली में कोई ज्यादा अन्तर नहीं

---

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (इंदौर) में पढ़ा गया आलेख।

#पुलिस उप–महानिरीक्षक, लुधियाना रेंज, लुधियाना।

दिखाई दिया है। वास्तव में पुलिस तंत्र जमींदारी प्रथा की उपज है और सामन्तवादी प्रणाली की जरूरतों को पूरा करने में सक्षम है।

अतः आज की सबसे बड़ी जरूरत है कि औपनिवेशिक पुलिस तंत्र को समाप्त कर, लोक–कल्याणकारी राज्य की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए एक नवीन पुलिस तंत्र की स्थापना की जाय।

3. आतंकवाद एवं मानवाधिकार

जैसे ही आतंकवाद का नाम आता है, मानवाधिकारों के उल्लंघन की बात स्वतः ही सामने आती है। आतंकवादी घटनाओं के द्वारा पूर्व–नियोजित योजना के अनुसार हिंसा के प्रयोग के द्वारा गैर कानूनी गतिविधियों को अंजाम दिया जाता है। इस प्रक्रिया में आम जनता और सरकारी तंत्र को निशाना बनाया जाता है। परिणामस्वरूप आम जनता के मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है। चूँकि आतंकवाद एक गैर कानूनी प्रक्रिया है और इसमें संविधान व विधि द्वारा स्थापित तंत्र के खिलाफ योजनाबद्ध तरीके से षड्यंत्र किया जाता है, लिहाजा इससे निपटने के लिए कोई पूर्व–निर्धारित सूत्र (Formula) नहीं होता है।

इस पूरी प्रक्रिया में मानवाधिकार उल्लंघन केन्द्र बिन्दु में होता है। एक तरफ आतंकवादी आम जनता और सरकारी तंत्र के मानवाधिकारों का उल्लंघन करते हैं तो दूसरी तरफ सुरक्षा–बलों द्वारा आतंकवादियों के मानवाधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगता है। अगर सूक्ष्मता के साथ अन्वेषण किया जाय तो सबसे ज्यादा प्रभावित वर्ग आम जनता और पुलिस है।

4. पुलिस एवं आतंकवाद

पुलिस का मुख्य कार्य सामान्य परिस्थिति में कानून–व्यवस्था को बनाये रखते हुए अपराधों की रोकथाम एवं अन्वेषण है।

आतंकवाद एक असामान्य स्थिति है, जिससे निपटने का दायित्व भी पुलिस को दे दिया जाता है। वास्तव में पुलिस तंत्र इस असामान्य स्थिति से निपटने के लिए तैयार नहीं होता और न ही इसके पास इससे निपटने के लिए पर्याप्त संसाधन मौजूद होते हैं। ऐसे में पुलिस जब आतंकवाद से निपटने का प्रयास करती है तो उसे अनेक तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में सबसे ज्यादा परेशानी आम जनता को होती है क्योंकि पुलिस अपने मूलभूत दायित्वों को छोड़कर आतंकवाद से निपटने में व्यस्त हो जाती है।

पुलिस की मदद के लिए अर्द्ध–सैनिक बल और यहाँ तक कि सेना की सहायता भी प्रदान की जाती है लेकिन इन सब में पुलिस को ही नेतृत्व प्रदान करना होता है। इस तरह आतंकवाद से निपटने की मुख्य भूमिका पुलिस की ही हो जाती है।

5. आतंकवाद में पुलिस की सक्रिय भूमिका

आतंकवाद में पुलिस को आगे आकर मोर्चा संभालना पड़ता है। ऐसे में आतंकवाद से निपटने में पुलिस की सक्रिय भूमिका होती है। पंजाब राज्य जो कि आतंकवाद के दौर से गुजर चुका है; ऐसा कहा जाता है कि आतंकवाद के दौरान सड़क पर या तो आतंकवादी होते थे या पुलिस। सरकार की बाकी सारी मशीनरी पर्दे के पीछे से काम करती थी। इस पूरे प्रकरण में पुलिस के सामने अनेक चुनौतियाँ होती हैं, जिनमें से मुख्य हैं:–

(क) आतंकी घटनाओं को होने से रोकना;

(ख) किसी आतंकी घटना के होने पर उसकी जाँच करना, दोषियों को गिरफ्तार कर कानूनी कार्रवाई करना;

(ग) आतंकी गतिविधियों में संलिप्त व्यक्तियों की पहचान करना और उनके खिलाफ समुचित कार्रवाई करना;

(घ) आम जनता को भय और दहशत के वातावरण से मुक्ति दिलाकर उनमें विश्वास पैदा करना।

उपरोक्त चुनौतियों का सामना करने के लिए पुलिस बल को सुनियोजित तरीके से तैयार करना आवश्यक होता है क्योंकि ये कार्य पुलिस के आम दायित्वों से बिल्कुल अलग हैं। इस स्थिति का सामना करने के लिए बहुत ही दृढ़ इच्छा शक्ति एवं नेतृत्व–क्षमता का होना जरूरी है। इसलिए सामान्य पुलिस बल को अर्द्ध सैनिक एवं सैनिक बल की टुकड़ियाँ मुहैया कराई जाती हैं। पंजाब पुलिस का नेतृत्व करने के लिए जुलियों रिबेरो और के. पी. एस. गिल सरीखे पुलिस अधिकारियों को तैनात किया गया, जिन्होंने अपनी अद्‌भुत नेतृत्व क्षमता का परिचय दिया और विषम परिस्थितियों में पुलिस बल को आतंकवाद का मुकाबला करने के लिए तैयार किया।

पंजाब पुलिस के खिलाफ मानवाधिकार हनन के आरोप लगाये गये; हो सकता है कि आतंकवाद से निपटने के क्रम में पुलिस द्वारा कुछ ऐसे काम किये गये हों जो कि कानून की किताब में नहीं हो; लेकिन ये तो मानना ही पड़ेगा कि आतंकवाद जैसी असामान्य परिस्थिति से कानून में लिखे उपबन्धों के अनुसार नहीं निपटा जा सकता।

6. आतंकवाद और कानून

किसी भी देश का कानून सामान्य परिस्थितियों से निपटने के लिए बनाया जाता है। इसी तरह भारतीय दण्ड संहिता और दण्ड–प्रक्रिया संहिता सामान्य परिस्थितियों में कानून–व्यवस्था बनाये रखने और सामान्य अपराधों से निपटने के लिए बनाये गये हैं। जाहिर है आतंकवाद से निपटने के लिए टाडा (TADA) और पोटा (POTA) जैसे विशेष

कानून बनाये गये। लेकिन इनका दुरूपयोग होने लगा और भारतीय संसद ने इन अधिनियमों को निरस्त कर दिया। बाद में नेशनल इंवेस्टीगेसन एजेन्सी (NIA) का गठन किया गया और Unlawful Activities (Prevention) Act 1967 में संशोधन किये गये।

मुम्बई में ताज होटल पर हुआ हमला साक्षी है कि आतंकवादी किस रूप में आम जनता और पुलिस के मानवाधिकारों का हनन करते हैं। अजमल कसाब की फाँसी का बदला भी आतंकवादी संगठनों द्वारा देश के अन्य भागों में उपद्रव और अशांति फैलाकर लिया गया। बोधगया जैसे पवित्र स्थान पर धमाके कर आतंकवादियों ने ये दिखा दिया कि उनके मन में कानून का डर नहीं है।

सबसे बड़ी बात है कि आतंकवादियों के खिलाफ साक्ष्य जुटाना बहुत ही मुश्किल होता है। यहाँ तक कि गवाह न्यायालय में अपने बयानों से मुकर जाते हैं।

7. कथित फर्जी मुठभेड़ और मानवाधिकार

"जौ के साथ घुन भी पिसा जाता है" यह एक पुरानी कहावत है। यह कहावत आतंकवाद और पुलिस ऐक्शन पर अक्षरशः लागू होती है। यह साक्ष्य है कि निहित स्वार्थी तत्वों ने आतंकवाद के दौरान अपनी रोटी सेंकने की कोशिश की; लेकिन यह भी सत्य है कि पंजाब पुलिस के अधिकारी सिपाही से लेकर डी.जी.पी. तक जब सुबह घर से निकलते थे तो ये पता नहीं होता था कि वे शाम को जिन्दा वापस आ पायेंगे या नहीं!

पंजाब में आतंकियों को कानूनी सहायता प्रदान करने के मकसद से कई तथाकथित मानवाधिकार संगठन खड़े हो गये, जिन्हें विदेशों से आतंकवाद को योजनाबद्ध तरीके से भारत में फैलाने वाले व्यक्तियों और संगठनों से आर्थिक मदद मिला करती थी। इन संगठनों ने हर तरीके से आतंकियों को मानवाधिकार के नाम पर सहायता पहुँचायी।

इतिहास साक्षी है किन इन संगठनों ने हर मुठभेड़ को फर्जी मुठभेड़ (Fake encounter) की संज्ञा दी और कई पुलिस अधिकारियों के खिलाफ मुकदमें भी दर्ज करवाये। एक तरफ आतंकवादी बाईज्जत बरी होते थे तो दूसरी तरफ पुलिसकर्मियों को न्यायालय से सजा मिला करती थी।

इन सब बातों से ये निश्कर्श निकलता है कि एक पुलिसकर्मी का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता; वह तो अपने जान की बाजी लगा कर देश को टूटने से बचाने का प्रयास करता है।

8. तस्वीर का दूसरा पहलू : पुलिसकर्मियों की शहादत

एक तरफ हम आतंकियों के मानवाधिकार की बात करते हैं लेकिन हम ये भूल जाते हैं कि पुलिसकर्मियों ने बहादुरी दिखाते हुए देश की रक्षा करते हुए अपनी कुर्बानी दी।

अगर हम पंजाब पर गौर करें तो देखेंगे कि आतंकवाद के दौरान लगभग 1765 पुलिसकर्मी शहीद हुए जिसमें सिपाही से लेकर आई. पी. एस. अधिकारी शामिल हैं। ये सभी पुलिसकर्मी अपनी ड्यूटी के दौरान या ड्यूटी पर आते–जाते समय या अपने घर में शहादत को प्राप्त हुए।

इसके अलावा कई वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के ऊपर जानलेवा हमले हुए। पंजाब पुलिस के तत्कालीन पुलिस महानिदेशक श्री जुलियों रिबेरो के ऊपर पंजाब सशस्त्र पुलिस जालंधर के प्रांगण में जानलेवा हमला हुआ, जिसमें वे बाल–बाल बचे। सीमा रेंज के तत्कालीन पुलिस उप–महानिरीक्षक श्री अजीत सिंह को आतंकवादियों ने मार दिया। पंजाब पुलिस के तेज तर्रार बहादुर अधिकारी श्री अविन्दर सिंह बरार, जो पटियाला के वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक थे, ने अपने जूनियर अधिकारी श्री के. आर. एस. गिल, आई. पी. एस. के साथ शहीद हो गये। इस तरह के सैकड़ों उदाहरण हैं जिसमें पुलिस के वरिष्ठ अधिकारियों पर जानलेवा हमले किये गये। जनरल ए. एस. वैद्य, जो कि भारतीय सेना के प्रमुख रह चुके थे, को आतंकवादियों ने अपना निशाना बनाया।

यही नहीं आतंकवादियों ने पुलिसकर्मियों के साथ–साथ उनके परिवार–जनों को भी नहीं छोड़ा। सैकड़ों–हजारों निर्दोश व्यक्तियों जिनमें बच्चे, बूढ़े और महिलायें शामिल हैं, को अपनी जान गँवानी पड़ी सिर्फ इसलिए कि वे बहादुर पुलिस अधिकारियों के पारिवारिक सदस्य थे।

उदाहरण के तौर पर हम जिक्र करेंगे इन्सपेक्टर ए. के. सिंह (नाम परिवर्तित) का, जिनके घर उनके सगे संबंधी एकत्रित हुए थे, उनकी पत्नी की मृत्यु पर शोक प्रगट करने के लिए। इस शोक सभा में आतंकवादियों ने दिनांक 7.10.91 को हमला कर दिया जिसमें उनके कई रिश्तेदार मारे गये और कई जख्मी हुए। इसी संदर्भ में हम जिक्र करेंगे इन्सपेक्टर संग्राम सिंह (नाम परिवर्तित) का जिनके चार भाईयों और दो भतीजों को आतंकवादियों ने एक साथ मौत के घाट उतार दिया था। यह दर्दनाक घटना पंजाब के लुधियाना जिले की है, जो दिनांक 16.09.91 को घटित हुई थी।

ऐसे हजारों उदाहरण मिलेंगे जो आतंकवाद के दौर में पुलिसकर्मियों और उनके सगे संबंधियों के खून से लथ–पथ हैं।

9. साईबर आतंकवाद एवं मानवाधिकार (Cyber Terrorism and Human Rights)

आतंकवाद के संदर्भ में 21वीं सदी में साईबर आतंकवाद की चर्चा करना अत्यंत प्रासंगिक है। सूचना क्रांति के वर्तमान युग में साईबर आतंकवाद इतना सशक्त हो गया है कि सूचना तकनीकी अधिनियम (I.T. Act) 2000 में धारा 66F जोड़ा गया और इसके लिए आजीवन कारावास का दण्ड प्रस्तावित किया गया।

आज फेसबुक, गूगल, याहू, स्काईप आदि के प्रयोग आम व्यक्ति के लिए खतरा पैदा करने लगे हैं। आतंकवादी जहाँ फेसबुक, गूगल और स्काईप जैसे वेबसाईटों के माध्यम से आतंकी घटनाओं को अंजाम देते हैं और उन्हें पकड़ना मुश्किल भी हो जाता है।

इतना ही नहीं किसी और मुल्क में बैठकर भारत के संवेदनशील सूचना तंत्र को ध्वस्त करने के अकसर प्रयास होते रहते हैं जो कि राश्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए खतरा है, चुनौती भी।

फेसबुक पर महिलाओं व लड़कियों के फेक प्रोफाइल बनाना, गूगल और यू ट्यूब पर महिलाओं के अश्लील तस्वीर अपलोड करना आदि कुछ उदाहरण हैं, अंतर्राष्ट्रीय साईबर आतंकवाद से सभ्यता और संस्कृति को विनष्ट करने का।

10. मानवाधिकार एवं मूल कर्त्तव्य

एक तरफ मानवाधिकार की बात होती है तो दूसरी तरफ हमारा ध्यान मूल कर्त्तव्यों की तरफ अनायास ही चला जाता है। भारतीय संविधान में संशोधन कर अनुच्छेद 51। जोड़ा गया। 42वें संशोधन 1976 के द्वारा यह महसूस किया गया कि भारतीय प्रजातंत्र अधिकार और सिर्फ अधिकार की बात कर अपने पथ से भ्रष्ट हो गया है इसलिए भारतीय गणराज्य के 26वें वर्श में मूल कर्त्तव्यों को संविधान में स्थान दिया गया।

इस संदर्भ में आतंकवाद और इसमें लिप्त व्यक्तियों के मानवाधिकार की बात तो की जाती है लेकिन आतंकी संगठनों द्वारा प्रतिदिन किये जा रहे मानवाधिकार हनन के बारे में कोई चर्चा नहीं करता। एक तरफ आतंकवादी आम जनता के मानवाधिकारों का हनन करते हैं; उन्हें संविधान और उसके द्वारा प्रस्तावित मूल कर्त्तव्यों का मजाक उड़ाना अच्छा लगता है; तो दूसरी तरफ हमारे समाज में एक ऐसा वर्ग है जो दूसरों के अधिकारों का हनन करने वाले आतंकियों के मानवाधिकारों की वकालत करता है। समय की मांग है कि मानवाधिकार को मूल–कर्त्तव्य से जोड़कर देखा जाए।

11. उपसंहार

वैश्वीकरण के इस युग में अपराध और आतंकवाद का भी वैश्वीकरण हो गया है। इस बात को ध्यान में रखकर संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 1994 में अन्तरराष्ट्रीय आतंकवाद से निपटने के लिए, विश्व–स्तर पर सकारात्मक कदम उठाने पर, जोर दिया है। इसी कड़ी में सुरक्षा परिशद् ने 2004 में अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद की कड़ी भर्त्सना की और इससे निपटने के लिए विश्व–समुदाय का आह्वान किया। इस संदर्भ में राष्ट्र और विश्व स्तर पर प्रयास किये जा रहे हैं। इस विशय से संबंधित कुछ सुझाव संक्षेप में नीचे दिये जा रहे हैं :–

(i) संविधान अनुच्छेद 51A को प्रभावी बनाया जाए और मानवाधिकार को मूल कर्त्तव्य से जोड़ने के लिए अनुच्छेद 51B जोड़ा जाए।

(ii) मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम 1993 की धारा 12 में एक नई उप–धारा जोड़ी जाय जिसमें ये उपबंध किया जाए कि आतंकवादियों द्वारा आम जनता के मानवाधिकारों का हनन मानवाधिकार आयोग के अधिकार–क्षेत्र में आए।

(iii) पुलिसकर्मियों के मानवाधिकार हनन को भी मानवाधिकार आयोग के अधिकार–क्षेत्र में लाया जाए। पुलिसकर्मियों के परिवार व रिश्तेदारों को आतंकवादियों द्वारा निशाना बनाये जाने पर मानवाधिकार आयोग द्वारा स्वतः संज्ञान लिया जाए।

(iv) प्राईवेट मानवाधिकार संगठनों को मानवाधिकार (Human Rights) शब्द का प्रयोग अपने संगठन के नाम के साथ जोड़ने पर प्रतिबंध लगाया जाए।

(V) मानवाधिकार आयोग के अन्तर्गत आतंकी घटनाओं पर संज्ञान लेने के लिए एक विशेष घटक बनाया जाए।

(vi) आतंकवाद से मुकाबला कर रहे पुलिस बलों को मानवाधिकार आयोग से संरक्षण प्रदान किया जाए।

(vii) राज्य मानवाधिकार आयोगों को राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के साथ जोड़ा जाए, ताकि मानवाधिकार संरक्षण की दिशा में एक समन्वित प्रयास किया जा सके।

स्त्री–सशक्तिकरण, बदलता हुआ परिवेश तथा मानव–मूल्य *

#डॉ. अनिता सिंह

हमारे समाज में 'स्त्री–सशक्तीकरण' और 'पुरुष प्रधान समाज' ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। प्रश्न उठाया जा सकता है कि परम्परागत मूल्यों वाले भारतीय समाज में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के बीच मानवीय स्वतंत्रता को स्थान कैसे दिया जा सकता है अथवा दिया भी जा सकता है या नहीं?

स्त्री–सशक्तीकरण को दो स्तरों पर देखा जा सकता है– वैयक्तिक और सामूहिक। जहाँ वैयक्तिक सशक्तीकरण आत्मसम्मान, स्वाभिमान तथा आत्मचिन्तन के माध्यम से सम्भव है वहीं सामूहिक सशक्तीकरण का उददेश्य सामूहिक चेतना मूल्यों तथा व्यवहार में बदलाव लाना है। स्त्री–सशक्तीकरण के सन्दर्भ में प्राचीन काल के कुछ उदाहरण देना एक प्रवृति सी बन गयी है कि वह काल स्त्रियों के लिये स्वर्णकाल था, आजादी थी, शिक्षा के अवसर थे और भी बहुत कुछ। मैत्रेयी, गार्गी, अपाला आदि का नाम लिया जाता है। कितने बड़े झूठ में जीते हैं हम, न जाने क्यों इन भ्रम उत्पन्न करने वाले विचारों को सुनते रहते है और सुनाते रहते हैं। आगे के समय में रजिया सुल्तान, रानी दुर्गावती, लक्ष्मीबाई आदि का नाम लेकर हम आत्ममुग्ध होते रहते हैं। यह जानते हुये भी कि ये सभी नाम अपवादस्वरूप ही है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के दबाबवश। आम स्त्री के ऊपर इनका कोई प्रभाव नहीं। ये सिर्फ कहानियों के तौर पर विद्यालयी पाठयक्रम में पढी और पढायी जाती है। स्वयं को तसल्ली देने की और जिम्मेदारियों से बचते रहने के लिये यह एक ढाल का काम करता है कि पूर्व में तो स्त्री के प्रति पूज्यभाव था, स्त्रियाँ मन्त्रसृष्टा थी, समाज में उनका स्थान बेहद गरिमामय और सम्मानजनक था, वह तो बाद के काल में विदेशी आक्रमणकारी आये, उनसे समाज को बचाने के लिये, स्त्रियों की सुरक्षा के लिये अनेक नियम–कानून बने। पर्दाप्रथा, बालविवाह, सतीप्रथा सब उन्हीं विदेशियों की वजह से हैं, जिन्होंने यहाँ आकर लूटपाट मचायी। कितना आसान है, यह सब कह देना और कहकर मौन हो जाना।

ऐसा नहीं है कि इन कुरीतियों का विरोध नहीं किया गया। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज ने स्त्री–शिक्षा, विधवा विवाह का समर्थन किया। बालविवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, सतीप्रथा आदि का जमकर विरोध किया। ''दयानन्द सरस्वती, स्वामी

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (कोचीन) में पढ़ा गया आलेख।

#पाडुचेरी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से संबद्ध।

विवेकानन्द, राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि सामाजिक जागृति की आधारशिला बने। लेकिन पैतृक अधिकारों, नारी–पुरूष की समानता, श्रमविभाजन आदि की इन मनीषियों ने भी कोई बात नहीं की।''(1) पर हाँ, इन आन्दोलनों से स्त्रीजगत को एक दिशा तो मिली। उसके हालात बदले जा सकते हैं, इसका अहसास हुआ। वर्तमान में, स्त्रियों के हितों की रक्षा के लिये अनेक कानून, आयोग आदि बने है फिर भी क्या कारण है कि इस क्षेत्र में जो अपेक्षित परिणाम आने चाहिये, वह नहीं आ पा रहे हैं? जैसे– 2006 में पारित घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम के तहत स्त्री पुलिस स्टेशन जाकर पति या घर के अन्य सदस्यों के खिलाफ रिपोर्ट कर सकती है, पर सोचने वाली बात यह है कि इस कदम के बाद स्त्री के सामने अन्य विकल्प क्या होंगे? स्त्रियों के प्रति होने वाले अत्याचारों और हिंसात्मक व्यवहार को रोकने के लिये हमें अपनी मानसिक बनावट में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है, आवश्यकता है, सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बदलने की। इस ढाँचे को बदले बिना स्त्री सशक्तीकरण का क्या अर्थ?

स्त्री–सशक्तीकरण की शुरूआत तो परिवार से होनी चाहिये। संसद में तीस प्रतिशत या पचास प्रतिशत स्थान देकर हम स्त्री समाज को सशक्त कर देगें, इस भ्रम से भी निकलना होगा। यह इस पर निर्भर करता है कि जन्म के पश्चात परिवार किस तरह से अपनी संतान को अपने संस्कारों के द्वारा, विचारों के द्वारा पालता है, बड़ा करता है? एक परम्परागत परिवार की उम्मीदें, आशायें स्त्री से उसकी परम्परागत भूमिका को निभाने में ही है। आज स्त्री ने उस दायरे को लांघा है, अपनी भूमिकाओं में परिवर्तन किया है। परन्तु घर–परिवार का, पास–पड़ोस का माहौल बदला ही नहीं। घर की जिम्मेदारियों को पूरा करके ही स्त्रियाँ अपने–अपने कार्यक्षेत्र में जाती हैं फिर उनके मन में घर छोड़कर आने का अपराधबोध कैसे आ जाता है? प्रश्न घूम–फिर कर फिर यहीं आ जाता है कि महिलाओं में शिक्षा के स्तर बढें है, रोजगार के अवसर मिले हैं, आरक्षण के प्रावधान से राजनीति में भी उनका प्रवेश सम्भव हुआ है। पर क्या कारण है कि स्त्रीजगत की समस्यायें भी बढती जा रही है? उत्तर आसान है– स्त्रियों के

सन्दर्भ में समाज ने अपने विचार तो बदले पर अपना व्यवहार नहीं बदला। जीवन–स्तर ऊँचा उठाने के लिये हो या स्त्री की इच्छा का स्वीकार, उसे बाहर काम करने देने का फैसला लेने के बाद भी परिवार और समाज की दृष्टि स्त्री पर लगी रहती है। उसकी परम्परागत भूमिकाओं में जरा सी भी चूक न तो परिवार सहन करता है, न ही समाज। पर फिर भी घर– बाहर की दोहरी भूमिकाओं में आज की महिलायें स्वयं को साबित करने में लगी हुयी हैं। एक स्वीकृत मान्यता कि महिलायें मूल्यों और संस्कारों की रक्षा करती हैं। अब इस दायित्व से मुक्त होकर काम करना क्या आसान है? पर महिलायें इस चुनौती को स्वीकार कर आगे बढ रही हैं।'' भारतीय महिलाओं की इस ललक के पीछे सबसे बड़ा कारक देश की तेजी से बढ़ती हुयी अर्थव्यवस्था है जिसने समाज में बड़े

बदलाव की शुरूआत की। इन चीजों को देखते हुये विशेषज्ञों का मानना है कि अगर भारतीय महिलाओं सहयोगपूर्ण कामकाजी माहौल, समान अधिकारिकता, विकास के पर्याप्त एंव समान अवसर और परिवार एंव दफ्तर की जिम्मेदारियों को निभाने के लिये एक उदारव्यवस्था दे दी जाय तो वे और भी बेहतर कर सकती हैं।''(2) इसके साथ ही यह भी देखना होगा कि स्त्रियों के राजनीतिक रूप से सशक्त होने पर उनके सामाजिक स्तर पर क्या कोई असर होता है, अगर होता है तो किस तरह? वर्तमान यथार्थ की तस्वीर यहाँ थोड़ी सी हटकर है। दिल्ली हो उत्तर प्रदेश, बिहार हो या तमिलनाडु, सत्ता में शीर्ष पर आसीन होने के बाद भी वहाँ की महिलाओं के जीवन स्तर को सुधारने के लिये कोई अलग से विशेष प्रयत्न तो नहीं किये गये। जब कोई महिला कहीं भी मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री आदि बनती है तो स्वाभाविक है कि समस्त स्त्री–समुदाय बहुत आशा भरी दृष्टि से उसकी ओर देखती है, और अन्ततः स्वयं को छला हुआ पाती है।

पंचायतों में स्त्रियों के प्रवेश ने एक छोटी सी ही सही पर आशा की किरण जगायी है। गाँवों की तस्वीर थोड़ी बदली जरूर है। इसे राजनैतिक ताकत की पहली सीढी माना जा सकता है, यहीं से स्त्रियों को सम्भलने की भी जरूरत है और समाज को स्वयं को बदलने की। आजकल प्रधानपति, सरंपचपति शब्द चल रहा है। मीटिंग्स में जाने तथा फैसले लेने का काम महिला का पति करता है क्योंकि यहाँ स्त्री बिना मानसिक तैयारी के आयी है। माना कि यह सही नहीं है पर इसे पहले चरण की व्यावहारिक कटिनाई के रूप में देखना चाहिये। ये दिक्कतें भी धीरे–धीरे दूर होंगी। आखिरकार जो गाँव–समाज स्त्री को घर की छत पर नहीं जाने देता था, उसने कम से कम इतनी उदारता तो बरती है। जैसे–जैसे स्त्रियों में शिक्षा बढेगी, उनका आत्मबल बढ़ेगा वैसे–वैसे ही इन प्रधानपतियों और सरपंचपतियों की संख्या कम होगी। क्योंकि स्त्रियों को जिस क्षेत्र में भी काम करने का अवसर मिलता है, वहाँ वह अपने आप को पुरुषों से कहीं बेहतर साबित करती है। वर्तमान परिवेश को देखा जाय तो स्त्रियाँ पुरुषों के मुकाबले ज्यादा बदल रही है। घरेलू जीवन से बाहर आकर सार्वजनिक जीवन में स्वयं को साबित कर रही हैं परन्तु पुरुष सार्वजनिक जीवन के साथ घरेलू जीवन में आने से अभी भी कतरा रहे हैं।

यह स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है कि ''आधुनिक समाज में पहले की अपेक्षा स्त्री के लिये अधिक अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती है, किन्तु आज भी उसको अपना पहला कदम सामाजिक विद्वेष के बीच ही उठाना पड़ता है।''(3) स्त्री सशक्तीकरण पर चर्चा करते हुये सबसे निन्दनीय कृत्य भ्रूण–हत्या, दहेज–हत्या आदि पर सोचना होगा। पूरे वर्ष भर में देश में औसतन 8,000 हत्यायें दहेज के कारण होती हैं। देश में लगभग 40 हजार अल्ट्रासाउन्ड क्लिनिक भ्रूण–हत्या के कार्य में लगे हुये हैं। आँकड़ों के अनुसार, शिक्षित शहरी लोग कन्या भ्रूण–हत्या अधिक करवाते हैं। इस कार्य में माँ, दादी,

डाक्टर, नर्स आदि सभी महिलायें ही तो है, वह भी सभ्य और शिक्षित। फिर ऐसा कैसे होता है? जवाब यही है कि स्त्री शिक्षित हुयी है पर सशक्त नहीं। स्त्री की देह से जुड़े फैसले उसके नहीं होते। तो क्या शिक्षित स्त्री के अपने फैसले स्वयं लेना एक झूठ है जो समाज में प्रचारित किया गया है। ''प्रश्न यह है कि क्या औरतें अपने–अपने जीवन से इतनी दुखी होती हैं कि भय के कारण किसी नयी कन्या का अवतरण ही नही चाहती?''(4)

मूलतः शिक्षा सोच को बदलने के लिये जरूरी हथियार है। शिक्षा स्त्री को तब बदलती है, जब उसके आसपास का माहौल उसकी शिक्षा को उसके कॅरियर और उसके कैरियर को उसके आत्मसम्मान से जोड़कर देखना सिखाता है। यदि परिवार और समाज का परिवेश लड़की में पढाई– लिखाई के साथ आत्मबल, आत्मसम्मान भी दे तो स्त्री से जुड़ी समस्याओं में निश्चित रूप से कमी होगी। समय के साथ महिलाओं की आन्तरिक हिचक टूट रही है। वर्तमान में स्त्री जगत में एक नयी बात सामने आ रही है, अपने प्रति होने वाले अत्याचारों के बारे में खुलकर अपनी बात रखना। '' सबके सामने इस तरह की बातें बताने का एक मतलब है, वो यह कि न सिर्फ अपनी बल्कि तमाम औरतों की चुप्पी को आवाज देना। यह हौसला देना कि अब कम से कम बिना लोकलाज और बिना इज्जत गँवाने के भय से बात की जा सकती है। यह एक बहुत बड़ा बदलाव है।''(5) अन्याय को किसी कीमत पर ना सहना और दमन का विरोध जैसे मूल्य इस बदलाव में निहित है। 'मूल्य' आखिर है क्या? सरल शब्दों में, जिसे लेकर हम जीते हैं, वे सब हमारे मूल्य है। ''अनादिकाल से मनुष्य समाज परिवर्तित होते–होते आज की स्थिति में पहुँचा है। हर युग के आदर्श और मानदण्ड एक समान नहीं होते। इसीलिये मूल्य भी बदलते रहते हैं। हर स्थिति में यह शब्द मानवजीवन से जुड़ा है। इतिहास क्रम में और विकास के साथ मूल्य की कुछ और दिशायें भी दिखायी पड़ती है, यही वृहत्तर मानव–मूल्य है। अहिंसा, सत्य, प्रेम, दया, करूणा, सेवा, त्याग, समानता और अन्याय का विरोध आदि सभी मानव–मूल्य है।''(6)

मूल्य–संघर्ष के सामाजिक सन्दर्भ घूम–फिरकर स्त्री के इर्द–गिर्द आ जुटते हैं। परम्परागत सांस्कृतिक प्रभावों वाली भारतीय नारी आज अपनी भूमिकाओं को लेकर दुविधा में है क्योंकि समाज अपने सुविधानुसार स्त्री को ही मूल्य–निर्वहन का दायित्व सौंप देता है। अगर सेवा, त्याग आदि मूल्यों की बात करें तो परिवार इसकी उम्मीद स्त्री से ही करता है। जबकि मानव होने के नाते यह जिम्मेदारी पुरुष की भी होती है। हमारे आस–पास ऐसी अनगिनत स्त्रियाँ हैं जिन्होंने परिवार की सेवा के लिये अपनी इच्छा–आकांक्षाओं को त्याग दिया है। घर के अन्दर वाचिक हिंसा की सबसे ज्यादा शिकार स्त्री ही होती है। जहाँ पुरुष को दी जाने वाली गालियों में स्त्री होती है, वहीं स्त्री को दी जाने वाले आशीर्वाद में पुरूष। कैसी मूल्य–व्यवस्था है ये? ये कैसा समाज? यह

समय बदलाव का समय है, इस बदलते दौर में मानव–मूल्य भी विघटित होते जा रहे हैं। प्रेम, स्नेह, नैतिकता, सामूहिकता की भावना आदि का लगभग लोप हो चुका है। कुछ बरसों पहले तक एक घर की बेटी पूरे पास–पड़ोस की,गाँव की बेटी हुआ करती थी। इस मूल्य के समाप्त होने से स्त्रियों की सामाजिक सुरक्षा को सबसे ज्यादा हानि पहुँची है। सम्बन्धों में परस्पर स्नेह की जगह अजनबीपन ने ले लिया है। इन मूल्यों पर जोर देने के बजाय हमारे समाज के तथाकथित धर्माचार्य और नैतिकता के ठेकेदार महिलाओं को ही चलने–फिरने, उठने–बैठने के नियम समझाने लगते हैं। परम्परानुसार तो स्त्री के प्रति चाहे जो भी हिंसा हो, अपराध हो, उसे व्यक्तिगत कहकर टाल दिया जाता है। परन्तु यह सब जब हर तीसरी–चौथी महिला के साथ होने लगे तो यह मामला व्यक्तिगत कहाँ रहा?

मानव–मूल्यों में सबसे ऊँचा मूल्य न्याय और प्रेम का है। सबसे अधिक अवमूल्यन भी इन्हीं दोनों मूल्यों का हुआ है। जीवन के मूल्यों और मानदण्डों में परिवर्तन के फलस्वरूप वर्तमान समाज में अन्तर्विरोध की स्थितियाँ पैदा हो गयी हैं। समाज दोहरी मानसिकता में जी रहा है। मानवीय दृष्टि से प्रेम और विवाह के लिये धर्म, जाति, धन–सम्पति कोई मानदण्ड नहीं होना चाहिये। ''सभ्यता के आरम्भ से ही हिन्दुस्तान प्रेम और शान्ति का हिमायती और पोषक रहा है लेकिन आधुनिक समाज में 'प्रेम' पंचायती व्यवस्था से आतंकित है। पूरी दुनिया में उत्तर प्रदेश के मेरठ और मुजफ्फरनगर की शिनाख्त ऐसी जगह के रूप में की गयी है, जहाँ प्रेम का आखेट किया जाता है। अपनी बिरादरी और संस्कृति को बचाने के लिये ग्रामीण पंचायत प्रेमविहीन समाज कायम करने को तत्पर है।''(7) और दूसरी तरफ विवाह सम्बन्धों में प्रेम का स्थान 'अर्थ' ने ले लिया है और 'अर्थ' इतना बड़ा मूल्य बन गया है कि यह धार्मिक संस्कार कन्या के पिता के लिये सर्वाधिक जटिल आर्थिक संस्कार के रूप में परिवर्तित हो गया है। ''पहले लोग जाति तोड़ने पर या जाति से बाहर विवाह करने पर ज्यादा से ज्यादा जाति–परिवार, गाँव से बाहर कर देते थे। आज शिक्षित होने के बाद वे हत्यायें करने लगे हैं। यह मूल्यों के पतन की चरम सीमा है।''(8) ''माता–पिता के अपने सन्तान के सम्बन्ध में निर्णय लेने के एकमात्र अधिकार का महत्व उस समय अधिक महत्वपूर्ण तथा औचित्यपूर्ण था जब समाज में पर्दाप्रथा एवं बालविवाह जैसी कुरीतियाँ व्याप्त थी। अव्यस्क, अशिक्षित एवं सामाजिक क्रियाकलापों से अपरिचित तथा कुरीतियों से लड़ने में अक्षम स्त्रियां उचित निर्णय लेने में असमर्थ थीं। परन्तु वर्तमान में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुआ है, वे अपने भविष्य की योजना तथा विवाह का स्वतन्त्र निर्णय लेने में सक्षम हुयी हैं।''(9) अब ऐसे बदले हुये परिवेश में स्त्रियों को प्राचीन मूल्यों से बांध कर रखना, क्या न्यायसंगत ठहराया जा सकता है?

यदि मूल्यों के सकारात्मक पक्ष को विकसित किया जाय तो स्त्री सशक्तीकरण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। उदात्त मानव–मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा के साथ यह आवश्यक है कि स्त्री–पुरूष एक दूसरे के प्रति स्वस्थ, सन्तुलित और सम्मानजनक दृष्टिकोण अपनायें। यह सत्य है कि स्त्री के हित में अनेक कानून बने हैं पर कानून के साथ नवीन परिवेश का निर्माण भी करना होगा, जहाँ स्त्री और पुरुषों के लिये स्वतंत्रता और समानता एक समान होगी क्योंकि स्त्री–सशक्तीकरण का प्रमुख लक्ष्य ही समतामूलक समाज का निर्माण करना है। इस बदलते हुये परिवेश में उम्मीद की जा सकती है कि हमारा समाज आने वाली पीढी के लिये एक स्वस्थ दृष्टिकोण तथा जीवन को समुन्नत करने वाले मूल्यों की आधारपीठिका तैयार रखेगा।

सन्दर्भ–––

1. कृष्ण कुमार, सम्पादकीय, स्त्री–संघर्ष , यात्रा और प्रस्तावना ।
2. मंजरी चतुर्वेदी, नवभारत टाइम्स, 30 मार्च 2011।
3. डा. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता (सीमोन द बोउवार की 'द सेकेण्ड सेक्स' का हिन्दी अनुवाद) हिन्द पॉकेट बुक्स, पृष्ठ– 364 2002 ।
4. गुलाब कोठारी, राजस्थान पत्रिका, 21 अक्टूबर 2012 ।
5. रवीश कुमार, राजस्थान पत्रिका, 16 फरवरी 2013 ।
6. डॉ. विनीता राय, मूल्य और मूल्य संक्रमण, पृष्ठ–172, अनिल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1999 ।
7. ज्योति किरण , स्त्रीकाल, पृष्ठ– 39, अप्रेल– 2010 ।
8. रमणिका गुप्ता, अन्यथा, पृष्ठ–202, जून– 2008 ।
9. डॉ. प्रीती सक्सेना , मानवअधिकार – नई दिशायें, पृष्ठ– 78, नई दिल्ली , 2010 ।

महिला सशक्तीकरण, न्यायपालिका और 21 वीं सदी*

श्रीमती प्रतिभा सिंह

महिलाओं के प्रति अपराध, हिंसा या किसी प्रकार का अत्याचार किसी भी देश की समानताए विकास और शान्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने के मार्ग में बाधा है, अर्थात् किसी भी देश या समाज में शान्ति तभी रह सकती है, विकास तभी हो सकता है जब महिलाओं का विकास हो, उनके साथ न्याय व समानता की बात हो। ये सब तभी सम्भव है जब समाज में रहने वाले सभी मनुष्यों के अधिकारों की सुरक्षा हो और मानवाधिकारों की स्थापना हो। किसी भी देश की स्थिति को उस देश में महिलाओं की दशा से जाना जा सकता है। अतः एक महिला का सामाजिक विकास एक देश का सामाजिक विकास होता है। एक शोषित महिला या सामाजिक, आर्थिक या राजनैतिक दृष्टि से शक्तिहीन महिला अपने भावों, विचारों व क्रियाकलापों में अपनी विवशता और कष्टों को ही दर्शाती है तथा यही संकुचित व कुंठित जीवन की धरोहर अपनी आगामी पीढ़ी को अन्तरित करती है, किन्तु यदि एक महिला के साथ समानता व सम्मान का व्यवहार किया जाता है तो वह न केवल अधिकारों से सशक्त होती है वरन् उसकी कार्यकुशलता बढ़ती है और सांस्कृतिक धरोहर के रूप में संजोयी गई नकारात्मक प्रथाओं, परम्पराओं और रूढ़ियों का खण्डन होता है। इस तरह से मानवाधिकारों की संरक्षा करना जीवन में सन्तुलन व सशक्तीकरण लाना है।

महिला सशक्तीकरण वर्तमान समय का सबसे अधिक प्रासंगिक एवं समीचीन मुद्दा है। इसने धीरे–धीरे सामाजिक प्रतिक्रिया के रूप में अपनी जगह बनाते हुए समाज में शक्ति वितरण में असन्तुलन को चुनौती दी है। आज इसे समाज में वास्तविक सामाजिक समानता स्थापित करने के एक प्रमुख साधन के रूप में देखा जाता है। सशक्तीकरण का पहला आयाम है महिलाओं में स्वाभिमान एवं आत्मविश्वास की जाग्रति व विकास होना। महिलाओं के जीवन को कानून व न्याय व्यवस्था द्वारा ताकत मिली है तथा उनके आत्मविश्वास को बढ़ावा मिला है, उन्होंने इससे अपने जीवन को नया आयाम दिया है। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन या लोगों की मान्यताओं, मानसिकताओं, संस्कारों, नैतिक मूल्यों, आचार या व्यवहारों में परिवर्तन महिला के आस–पास घूमता है।

महिलाओं के विकास ने देश के विकास को दर्शाया है। उनमें चेतना, आत्मविश्वास, जागरूकता, आत्मबोध इत्यादि पैदा हुआ है। किसी भी देश की प्रगति एवं

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (इंदौर) में पढ़ा गया आलेख।

#सिविल जज, गया

कल्याण हेतु समानता एक प्राथमिक महत्व का मुद्दा है, चाहे वह आर्थिक समानता, राजनीतिक या सामाजिक समानता हो। इतिहास दर्शाता है कि महिलाओं ने अपने अधिकारों को बिना संघर्ष के नहीं प्राप्त किया है और इस संघर्ष का निष्कर्ष शिक्षा और सामाजिक जागृति द्वारा ही प्राप्त किया गया है। स्त्री ने सदैव ही समाज और इतिहास में विशिष्ट और चुनौतीपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय समाज में परम्परागत रूढ़ियों को तोड़ते हुये न्याय व्यवस्था का आश्रय लेकर स्त्री ने सशक्तीकरण की नई आधारशिला रखी है। महिला सशक्तीकरण में न्यायपालिका का योगदान आँका जाये तो हम पाते हैं कि समाज में यदि किसी भी व्यक्ति का शोषण और वंचन है तो उसे दूर करके सभ्य समाज की स्थापना करना ही न्यायालय का कार्य है। न्यायपालिका ने सदैव महिलाओं की समाज की रूढ़ियों, कुरुतियों, कुप्रथाओं, अपराध, अत्याचार, भेदभाव, शोषण से सुरक्षा प्रदान की है, फिर चाहे वह सती प्रथा, बाल विवाह, हिंसा, शोषण, अत्याचार हो या अन्य कोई अपराध। न्यायपालिका ने समाज में समानता लाने, निर्बल वर्ग (महिला) के हितों एवं अधिकारों की सुरक्षा व संरक्षण करने और गुनहगार को सजा देकर भयमुक्त वातावरण तैयार करने में सदैव ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है और आगे भी निभाती रहेगी। भारतीय संदर्भ में जातीय विभाजन के कारण विभिन्न आर्थिक वर्गों में उनके अपने सांस्कृतिक एवं सामाजिक वर्ग हैं जिनके कारण उनकी अपनी अलग–अलग आवश्यकतायें हैं और न्याय की दरकार है। अतः भारतीय न्यायपालिका ने इन सब बातों को ध्यान रखते हुए समय व परिस्थिति के अनुसार न्याय प्रदान किया है। उच्चतम न्यायालय ने अपने निर्णयों द्वारा समय–समय पर महिलाओं के हित में व्यापक दिशा निर्देश जारी किये हैं। जिसमें महिलाओं के कार्यस्थल पर उत्पीड़न से संरक्षण प्रदान करने के दिशा–निर्देश दिये हैंए इसके अतिरिक्त समान पारिश्रमिक अधिनियम, अनैतिक व्यापार निरोध अधिनियम, सती निषेध अधिनियम, दहेज निषेध अधिनियम व अन्य क्षेत्रीय महिला कानूनों जैसे महत्वपूर्ण अधिनियमों का कार्यान्वयन करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि महिलाओं के विकास के लिये शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के लिये जिन कानूनों को बनाया गया है उनके कार्यान्वयन से महिलाओं का सशक्तीकरण हुआ है। आज महिला जब घर से बाहर निकलती है चाहे फिर वह किसी भी वर्ग या धर्म की हो, कहीं भी काम करती हो या घरेलू महिला हो उसमें यह आत्मविश्वास बढ़ा है कि यदि उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय होता है तो न्यायालय का सहारा ले सकती है; यह बहुत बड़ी बात है। हमारे भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकार सभी क्षेत्रों में समानता को सुनश्चित करने में स्वयं को प्रतिबद्ध तो करते है किन्तु फिर भी सामाजिक रूढ़ियां, परम्पराएं और धर्म की आड़ में कहीं न कहीं पुरुष प्रधान समाज आज भी समानता लाने में एक व्यवधान के रूप में रहा है। समाज में सदा से ही विभिन्नता रही है और यह लिंग विभाजन की श्रेणीबद्धता, जाति, वर्ग, धर्म क्षेत्रीयता के आधार पर और

ज्यादा जटिल होती चली गई है। इन सब के बाबजूद यह कानून व न्यायपालिका ही है जो अभी तक सामाजिक परिवर्तन, महिलाओं की सुरक्षा, उनका संरक्षण, असमानता एवं किसी भी प्रकार के भेदभाव प्रदर्शित करने वाली प्रथाओं से महिलाओं को निजात दिलाने वाले साधन के रूप में अपेक्षित है। इतिहास गवाह है कि भारत ही नहीं बल्कि समस्त विश्व की महिलाओं ने प्रताड़ना, अत्याचार और उपेक्षा को सहा है। समय परिवर्तित हो रहा है नये–नये कानूनों का निर्माण, विशेष न्यायलयों का गठन दाण्डिक विधियों में संशोधन हो रहा है। इन सबमें एक चीज का विशेष ध्यान रखा जा रहा है वह है महिलाओं के प्रति संवेदनशीलता। आयु, तलाक, उत्तराधिकार भरण–पोषण के कानूनों को महिला सशक्तिकरण के रूप में देखा जा सकता है। न्यायपालिका द्वारा इन कानूनों का कार्यान्वयन जहाँ एक ओर समाज को चेतावनी देता है वहीं दूसरी ओर अपराधी के मन में अनुचित करने का भय, स्वयं पर नियन्त्रण व स्वयं को सुधारने की ओर प्रेरित कर सकता है। इस सब के बाबजूद एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि न्यायालयों द्वारा प्रदत्त न्याय का लाभ कितनी महिलायें ले पा रहीं हैं। महिलाओं की न्याय तक पहुँच और विधिक सशक्तीकरण दोनों चीजें अन्योन्याश्रित हैं। जब विधिक सशक्तीकरण होगा तो न्याय तक पहुँच निश्चय ही होगी और तभी सही मायने में सशक्तिकरण होगा। आज न्यायालयों के समक्ष जितने भी मामले आ रहे हैं जिनमें पीड़ित पक्ष महिला है उनके कारणों को जानने की आवश्यकता है, और वहीं से निराकरण किये जाने की जरूरत भी है, ताकि न्यायालयों पर वादों के बढ़ते हुये बोझ के कारण न्याय वितरण में होने वाले बिलम्ब से बचा जा सके। वे कारण हैं कि न ही समाज में मूल्य परक शिक्षा दी जा रही है, और न ही पारस्परिक संबंधों में सेवाए समर्पण, त्याग और संयम का स्तर बढ़ा है बल्कि कहना चाहिये कि घटा है, सेवा और त्याग का स्थान स्वार्थ ने, समर्पण का स्थान स्वायत्तता ने और संयम का स्थान विलासिता ने ले लिया है। जो महिलाएं पीड़ित हैं, उनका अंततः एकमात्र सहारा न्यायालय ही होता है। अतः अधीनस्थ न्यायालयों की जिम्मेदारी कुछ अधिक हो जाती है क्योंकि यही वह फोरम है या यही वह द्वार है जहाँ व्यक्ति उसके विरूद्ध हुई किसी भी प्रकार की अत्याचार या अन्याय के लिये सर्वप्रथम दस्तक देता है। अतः न्याय में सन्तुलन अपरिहार्य आवश्यकता है। न्यायालय में सदैव ही उसके समक्ष आने वाले व्यक्तियों को सही गलत में अन्तर समझाने का प्रयास करता है जो कि सही अर्थों में सच्चा न्याय है। पति –पत्नी के विवादों में सारी संवेदनायें समाज में पत्नी की ओर झुक जाती हैं किन्तु न्यायालय के समक्ष वे दोनों ही समान दृष्टि से देखे जाते हैं। मामलों को सुलह–समझौते के आधार पर निबटाया जाता है। महिलाओं से जुड़े मुद्दे अन्य मामलों से अधिक संवेदनशील, भावनात्मक, मान–सम्मान व समाज से जुड़े मुद्दे हैं जिसके प्रति जरा सी चूक समाज में अराजकता का माहौल उत्पन्न कर सकती है। कई परिवारों को बर्बाद कर सकती है। अतः इन सब पहलुओं पर गम्भीरता से विचार कर न्यायालय अपने कार्यों को अन्जाम देते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य मामले बलात्कार, दहेज, घरेलू हिंसा, क्रूरता,

महिला भ्रूण का गर्भपात, भरण–पोषण, उत्तराधिकार, तलाक, संरक्षण, श्रमिक महिलाओं के अधिकार, दलित और महादलित महिलाओं के अधिकार, महिला आरक्षण, मीडिया प्रतिनिधित्व, आधारभूत संसाधनों का बंटवारा, उपभोक्ता अधिकार, स्वास्थ्य, धर्म और समुदाय, व्यक्तिगत और सामाजिक संबंधों से जुड़े प्रश्न या महिलाओं पर होने वाले किसी अन्य प्रकार के अपराध या महिलाओं के लिये समानता, सुरक्षा, संरक्षण इत्यादि संवेदनशील मुद्दों पर भारतीय न्यायपालिका के निर्देश, आदेश और कार्य अविस्मरणीय हैं। किन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि न्यायालयों की प्रक्रिया बड़ी लम्बी, दुरूह और जटिल होने के कारण न्याय मिलने में देरी होती है तो यहाँ पर यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि त्वरित न्याय हेतु न्यायालयों को भी समाज और सरकार के सहयोग की आवश्यकता होती है, जिसमें शिक्षक वर्ग, समाजशास्त्री, रिश्तेदार, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषक, मनोचिकित्सक, चिकित्सक, पुलिस प्रशासन अन्य अधिकारीगणों के सहयोग की आवश्यकता है, क्योंकि न्यायालय का कार्य एकल कार्य न होकर सदैव ही एक 'टीम वर्क' है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखें तो महिला आज भी असमानता, प्रभुत्व, शोषण, हिंसा, अत्याचार से पीड़ित ही है। कुछ चीजें आदर्शात्मक रूप में तो हैं किन्तु पुराने सामाजिक व्यवहार आज भी समाज में सक्रिय हैं। दहेज प्रथा, लिंग परीक्षण, वेश्यावृत्ति, बाल–विवाह, द्वि–विवाह, यौन अपराध अभी भी समाज में व्याप्त हैं। महिला श्रमिकों के लिये समय–समय पर न्यायपालिका ने महत्वपूर्ण निर्णय दिये हैं किन्तु आज भी कार्यस्थलों पर महिलायें अपराध या भेदभाव का शिकार होतीं हैं। आर्थिक क्षेत्र में न्यायालयों के सकारात्मक निर्णयों के बाबजूद भेदभाव व अपराध व हिंसा के मसले आज भी उभर रहे हैं। महिलाओं से संबंधित आज भी कुछ विषय हैं जिन्हें वर्तमान में नया आयाम माना जाता है। धारा 498। भा0 द0 वि0, वेश्यावृत्ति, गर्भनिरोधक के तरीके, मीडिया में महिलाओं की छविए महिलाओं का अश्लील प्रदर्शन तथा UCC(uniform Civil Code) 21वीं सदी में नये विचारणीय बिन्दु व महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। मात्र कानूनों का निर्माण सकारात्मक सामाजिक परिवर्तन नहीं ला सकता और न अकेले न्यायपालिका ही सामाजिक परिवर्तन का जिम्मा उठा सकती है। समाज के लोगों को यह जिम्मेदारी उठानी होगी कि उन्हें मूल्यपरक शिक्षा अपनी आगामी पीढ़ी को देनी है ताकि समाज में समानता और शान्ति का वातावरण तैयार हो सके। उन विचारधाराओं को चुनौती देनी होगी जो महिलाओं के कल्याण में बाधा हैं, उनके सर्वांगीण विकास में अड़चन हैं। समाज में समता के व्यवहार का पुनर्स्थापन किया जाना अपरिहार्य है। सामान्य महिलाएं अपनी बौद्धिकता रचनाधर्मिता, व्यवसाय, महत्वाकांक्षा को लेकर कोई दावा नहीं करती। वे रूढ़ियों, परम्पराओं में स्वयं को विलीन कर स्वयं का सुख तलाशने और महसूस करने का बहाना मात्र करती है क्योंकि वे बदलाव के विकल्प की उपलब्धता से अनभिज्ञ होती है। अतः उनके अधिकारों से परिचित कराना, शिक्षा देना, जाग्रति फैलाना, आर्थिक दृष्टि से मजबूत बनाना समाज

की भी जिम्मेदारी है। वर्तमान में महिलाओं ने बेशक डाक्टर, इंजीनियर, शिक्षक से लेकर प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपति के पद तक को सुशोभित किया है किन्तु इनकी संख्या नगण्य हैं। चंद पढ़ी लिखी एवं जागरूक महिलाओं से सम्पूर्ण महिला विकास का आकलन नहीं किया जा सकता। चिकित्सा विज्ञान के विकास के साथ–साथ जहाँ महिलाओं की औसत आयु में वृद्धि हुई वहीं खान–पान, पोषण के स्तर में तीव्र गति से गिरावट आयी है, यह गिरावट आदिवासी, दलित, विकलांग, भूमिहीन मजदूर, घुमक्कड़ जनजातियाँ, ग्रामीण महिलाओं के संदर्भ में तेजी से हुई है। हो सकता है कि न्यायालय महिलाओं से जुड़े सभी मुद्दों पर दिशानिर्देश दे दे लेकिन उनका पालन तो समाज के लोग ही करेंगे। ये बातें ठीक उस चुटकुले की तरह हैं–एक नई इमारत तैयार की जानी है और नई विशाल इमारत के अबिलम्ब निर्माण के आदेश दिये जा चुके हैं, इसकी व्यवस्था हो चुकी है कि नई इमारत बनने तक पुरानी इमारत में ही कार्य संपादित किये जायेंगे –जब –पूछा गया कि नई इमारत कब बनेगी, बोला गया कि जब पुरानी इमारत गिरा दी जायेगी, फिर पूछा गया कि पुरानी इमारत कब गिरायी जायेगी, तो बोला गया कि जब नई बन कर तैयार हो जायेगी।" ठीक इसी तरह समाज के लोग स्वयं पर आने वाली समस्याओं के कारण परम्पराओं और रूढ़ियों को बदलने की आवश्यकता तो महसूस करते हैं पर दूसरों के संदर्भ में पुरानी इमारत को गिराना नहीं चाहते।

खाद्यान्न, पेय, आश्रय, गतिशीलता, प्रेम, चेतना इत्यादि ऐसी चीजें हैं जिनकी समस्त प्राणी जगत को आवश्यकता होती है किन्तु महिलाओं को समाज ने कम दिया उन्हें इनका कम हिस्सा दिया गया। पिछली सदियों में महिलाओं ने पुरूषों के माध्यम से जगत को देखा। जैसे ही उन्हें शिक्षा या मताधिकार मिला, सोच में अन्तर आया। बच्चों के लालन–पालन से लेकर उच्च स्तरीय प्रबन्धन, राजनीति, खेल, सौन्दर्य, सर्जरी इत्यादि क्षेत्रों में महिलाएं आगे आईं हैं। माँ की भूमिका से निकलकर अन्य क्षेत्रों में नाम कमाते हुए अनन्त संघर्ष के बाद यह मुकाम हासिल किया जो कि किसी दूसरे का उपहार या पारितोषक नहीं है बल्कि उनकी अपनी जद्दोजहद तथा संघर्ष है जिसमें न्यायपालिका ने उनका सदैव ही सहयोग किया है और हौसला भी बढ़ाया है। अतः आज महिला सशक्तीकरण के मुद्दे पर बात करते समय आवश्यकता इस बात की है कि समाज के संगठन, सरकार व स्वयं समाज के लोग ऐसी ही पिछड़ेपन की शिकार महिलाओं के लिये कार्य करे। अधिकारों के साथ–साथ जवाबदेही सुनिश्चित की जाये। आज समाज पर समाज के लोगों द्वारा ही सामाजिक, नीतिगत एवं नैतिक दबाब बनाये जाने की आवश्यकता है क्योंकि शोषण आज भी रूढ़ियों एवं परम्पराओं में विद्यमान है, जिसे परिवर्तित करना और विकास को गति देना समाज का ही दायित्व है। एक दूसरा पक्ष भी है कि वे बुद्धिजीवी महिलाएं व संगठन जो अधिकारों पर कार्य कर रहे हैं सांस्कृतिक जड़ता के कारण पिछड़ेपन की शिकार स्त्रियों के लिए नई दिशा देने का कार्य कर सकते

हैं एवं उनके मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु आगे आकर उन्हें बराबरी का दर्जा दिला सकते हैं। आज के भारतीय परिदृष्य में महिला सुरक्षा एवं सुरक्षा दोनो प्रश्न हमारे सामने हैं। भ्रूण हत्या को रोकते हुए महिला की सुरक्षा की जवाबदेही सुनिश्चित करते हुए स्त्रियोचित गरिमापूर्ण मानवीय वातावरण प्रदान कर व्यापक परिवर्तन के लिये कार्यवाही की आवश्यकता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि आजादी के पश्चात भारतीय संविधान के स्वीकार किये जाने के बाद का पहला कदम कल्याणकारी राज्य की स्थापना का था। जिम्मेदारी का भार था हमारी सरकार और समाज के लोगों पर, लेकिन अगर हम ध्यान दें तो देखेंगे कि सरकार ने तो अपना कार्य किया कानूनों का निर्माण कर उसके क्रियान्वयन का कार्य न्यायपालिकाओं को सौंपा, तदनुसार न्यायपालिकाओं ने भी अपना कार्य किया किन्तु शायद हम समाज के लोग अपने हिस्से का कार्य भूल गये। जब तक समाज में जागृति नहीं आयेगी तब तक पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। सरकार और न्यायपालिका उपकरण हैं और यह हम पर निर्भर करता है कि हम इनका प्रयोग कैसे करते हैं। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरु ने महिलाओं के लिये विशेष नीति की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा था– 'भारत में महिला के पास इतिहास की पृष्ठभूमि है और उसके पीछे परंपरा है जो उन्हें प्रेरित करती है । फिर भी यह सच है कि वे विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों से बहुत ज्यादा ग्रस्त हैं और जब ये सब प्रतिबंध समाप्त हो जायेंगे तो महिलाएं राष्ट्रीय जीवन में अपनी पूरी भूमिका निभा सकेंगीं। देश में महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी हेतु समाज में अनुकूल तथा सहायक वातावरण की आवश्यकता है।' यदि देखा जाये तो न्यायपालिका ने सदैव ही महिलाओं हेतु अनुकूल एवं सहायक वातावरण तैयार करने में सहयोग किया है। राष्ट्रीय महिला आयोग केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर प्रोत्साहन देने वाली एक संस्था है जो महिला अधिकारों के लिये कार्य कर रही है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग भी इस दिशा में अपना सक्रिय योगदान दे रहा है।

आज हम 21वीं सदी में हैं और महिलाएं इसकी सबसे महत्वपूर्ण कड़ी हैं, जिनके बदलते सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिदृश्य में बदलते स्वरूप और भूमिका को न्यायपालिका ने बखूबी समझा है और उन मूल्यों को जो गैर बराबरी को वैधानिकता प्रदान करते हैं हतोत्साहित किया है, स्थिति का विश्लेषण कर सुरक्षा और प्रोत्साहन दिया है और उनकी सुरक्षा हेतु वृहत्तर समाज में सकारात्मक परिवर्तन के लिये मार्ग प्रशस्त किया है और भविष्य में भी करती रहेगी।

...

आदिवासी, दलित एवं जनजाति की सामाजिक उपस्थिति : एक विहंगावलोकन*

#प्रो0 सोमा बंधोपाध्याय

'आदिवासी, दलित एवं जनजाति की सामाजिक उपस्थिति : एक विहंगावलोकन'। विषय पर अपनी बात मिजोरम से ही शुरू करना चाहूँगी। मुझे याद है, लगभग 23 वर्ष पहले जब मैं यहाँ आई थी। मेरे पिताजी Border Roads Organization में Engineer थे और यहाँ पदस्थापित थे। मेरा पहला दिन यहाँ के स्कूल में दाखिला का एक अजीबोगरीब दिन था। मुझे मेरे सहपाठियों ने जो यहाँ के निवासी थे, You Indian कहकर संबोधित किया था। मेरे लिए यह किसी शॉक से कम न था। Mizoram हमारे भारत का ही एक अंग है। फिर वे हमें विदेशी क्यों कह रहे थे? यह बात वर्षों बाद मुझे पता चली थी कि मूल धारा के लोगों ने कभी इन्हें अपनी तरह से देखा ही नहीं था। मैं यहाँ छह वर्ष थी और धीरे–धीरे इनमें से एक बन गई थी। इनकी भाषा और इनकी संस्कृति से परिचित होने के बाद मुझे समझ में आया कि इनके भीतर इतना रोष क्यों हैं। उन दिनों आर्मी, बार्डर रोडस् के अलावा आइजोल शहर में व्यवसाय/व्यापार के चलते नान–मिजोस यहाँ आकर रहते और इनसे अपने स्वार्थ की खातिर संबंध भी बनाते पर प्रायः ये सहज–सरल लोग विश्वास कर ठग लिए जाते। कई बार सेना के कई लोग यहाँ की स्त्रियों से विवाह–कर लेते या संबंध बनाते, पर फिर काम निकल जाने पर छोड़कर चले भी जाते। परिणामस्वरूप, इनमें द्वेष, घृणा और रोष जन्म लेता और इस प्रकार एक वैमनस्य के वातावरण की सृष्टि होती। पर अब एक सुखद आश्चर्य के साथ मैं देख रही हूँ कि यहाँ अब वह परिस्थिति नहीं है।

North East तो स्वतंत्रता पूर्व भारत से लगभग कटा हुआ ही था। जिसका लाभ उठाते हुए ईसाई धर्म–प्रचारक यहाँ आए और उनके धर्म की उदारता और शिक्षा के आलोक में यहाँ की जनजातियों को एक दिशा मिली। परन्तु किसी भी तरह की उन्नति और विकास का सुफल यहाँ उन्हें आज तक नहीं पहुँच पाता है। आदिवासी समाज आज पहले की तुलना में ज्यादा समस्याग्रस्त है। इधर आर्थिक उदारीकरण और विकास की पाश्चात्य पद्धति भी जनजातियों की सामाजिक तथा आर्थिक संरचना को तहस–नहस करने पर तुली हुई है। स्वातंत्र्योत्तर पूर्व में भी जब समग्र भारत के पुनर्निर्माण की बात सोची जा रही थी, तब भी भारत का यह अंचल जिसे बीपबामदे दमां कहा जाता है,

---

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (मिजोरम) में पढ़ा गया आलेख।

#प्रोफेसर, हिन्दी विभाग कलकत्ता विश्वविद्यालय।

अवहेलित ही रहा। सिर्फ भारत का यह अंचल और यहाँ की जनजातियाँ ही क्यों भारत के तमाम जंगल—इलाके में निवास करनेवाले आदिवासी वो आज भी मूल धारा से पूरी तरह जुड़ नहीं पाए हैं। सदियों से पीड़ित, शोषित और जीवन की तमाम सुविधाओं से वंचित ये आदिवासी जुल्म, भूख एवं नग्नता के जीते जागते तस्वीर हैं। उन्हें उनकी ही जमीन से विस्थापित किया जा रहा है। अरण्य का अधिकार उनसे छीना जा रहा है। सोशल एक्टिविस्ट तथा मैगसैसै पुरस्कार प्राप्त लेखिका महाश्वेता देवी का कहना है कि — 'तथाकथित सभ्य समाज में सबसे निचले स्तर के जो मनुष्य हैं, उनसे भी गई—गुजरी, दशा आदिवासियों की है। उन्हें सभ्य समाज ने इंसान की गरिमा और मर्यादा नहीं दी। सभ्य—समाज, पुलिस प्रशासन, राजनीतिक दलों के लिए वे अब भी शिकार ही हैं।'

इन्होंने जन आंदोलनों को विषय बनाते हुए सरकारी ढुलमुल नीति और उपेक्षापूर्ण व्यवहार को भी पूरी तरह बेनकाब किया है इस निर्भीक लेखिका ने। उनका कहना है कि जब तक उनमें दरिद्रता रहेगी, सभ्य समाज का शोषण दमन—उत्पीड़न रहेगा, वे जन—संगठनों के जरिए संघर्ष करते रहेंगे। उनके शिक्षा के अधिकार का हनन किस प्रकार होता है, इसकी ज्वलंत उदाहरण है चुनी कोटाल। चुनी कोटाल—पश्चिम बंगाल के लोधा शबरों और खेड़िया शबरों में पहली महिला ग्रेजुएट थी। 16 अगस्त, 1992 को उसने आत्महत्या कर ली, विवश होकर। तत्कालीन सरकार व विश्वविद्यालय प्रशासन के उत्पीड़न और अन्याय की वह शिकार हुई। अत्यधिक दरिद्रता के बीच रहकर भी कठिन परिश्रम से चुनी ने हायर सेकेंडरी एवं बी. एससी. पास कर विद्यासागर विश्वविद्यालय में एम. एससी. में नामांकन कराया था। वहाँ एक प्रोफेसर शुरू से ही उसे प्रताड़ित करने लग गए, यह कहकर कि लोधा लड़की को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं। क्लास में मौजूद रहने पर भी उसे वे गैर हाजिर कर देते। इस प्रकार हाजिरी के अभाव में वह परीक्षा से वंचित की गई। फिर दूसरे वर्ष कम नम्बर देकर उसे फेल करा दिया गया। तीसरे वर्ष उसे परीक्षा में न बैठने देने की धमकी दी गई। लगातार मानसिक उत्पीड़न के कारण चुंनी ने आखिरकार खुदकुशी कर ली। सच तो यह था कि लोधा लड़की होने के अभिशाप ने उसे मारा था। तो क्या एक आदिवासी लड़की को उच्च शिक्षा पाने का अधिकार भी नहीं है, आज के इस सभ्य जगत में यह मामला सरकारी स्तर पर भले दबा दिया गया पर जनमानस इस क्रूरता को कभी भुला नहीं सकता।

यह है भारतीय सभ्य समाज की सच्चाई। एक—सा शरीर, एक—सा खून, एक ही आवाज, पैदा होने का एक ही तरीका, लेकिन जीवन की सुविधाओं में जमीन—आसमान का फर्क। एक को गाँव में रहने तक की छूट नहीं, दूसरे की चरण—पूजा। एक को खाने के लिए कुछ नहीं, दूसरे के लिए सारा इलाज ही उपलब्ध। यह भी महज इसलिए क्योंकि वह 'जाति विशेष' में पैदा हुआ है। जबकि इतिहास साक्षी है कि अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने में और स्वतंत्रता के आन्दोलन में ये आदिवासी कभी भी पीछे नहीं थे। यह अकाट्य सत्य है

कि भारत में अंग्रेजी सत्ता को सबसे पहली चुनौती सतपुरा के आदिवासी भीलों ने दी थी (1825–30 में) और संथाल परगना के संथालों ने (1855–56) में। यद्यपि आदिवासियों के प्रति राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों का भी नजरिया कुल मिलाकर उपेक्षा का ही रहा।

इस संदर्भ में केदार प्रसाद मीणा लिखते हैं कि सन् 1765 में पहली बार बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा के रूप में अंग्रेजी को आदिवासी क्षेत्रों की दीवानी प्राप्त हुई। इस तरह इस क्षेत्र में अंग्रेजों की घुसपैठ हुई। महाश्वेता देवी के अनुसार 1757 एवं 1857 के बीच पूर्वी भाग में बार–बार कृषि जीवी साधारण लोगों के द्वारा विद्रोह हुए हैं जिनमें स्मरणीय हैं – बेरिली विद्रोह, छोटा नागपुर का काल विद्रोह, बारसात में फराजी विद्रोह, 1855 में मोपला विद्रोह, तिलका माँझी की लड़ाई के साथ सिदोकान्हू का संथाल हूल विद्रोह तथा 1900 ई0 में बिरसा मुण्डा का उल्गुलान विद्रोह। यह भी ज्ञात होता है कि आदिवासी साहित्य कला और संस्कृति अपने आप में अत्यंत समृद्ध है। यद्यपि उन्हें मूल धारा में अपनाने में सभ्य समाज को आज भी कठिनाई होती है, परंतु उनके गीत, साहित्य और नृत्य आज भारतीय साहित्य व संस्कृति के अंग बन चुके है और विश्व भर में सराहे जाते हैं। चाहे वो राजस्थान के आल्हा उदल शौर्य–गीत हो, या प्रेम–कथाएँ, गोंड, भील, संथालों की लोकगीत एवं नृत्य, मणिपुर की लाई–हारोबा नृत्य या फिर मिजोरम की चराऊँ नृत्य अथवा त्रिपुरा के रियांग जनजाति का घड़ा और थाली का अद्‌भुत कलात्मक नृत्य, देखने वाले चकित रह जाते हैं।

ताराशंकर बन्धोपाध्याय की रचना गणदेवता, हाँसुली बाँक की उपकथा आदि रचनाओं में जब हम किसी जनजाति और गोष्ठी का चित्रण पाते हैं, तो उनके धर्म–कर्म, ईश्वर–विश्वास, सभी कुछ का विस्तृत वर्णन मिलता है और कहीं भी किसी सम्प्रदाय या जाति के प्रति, किसी व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार की हीन भावना या घृणा की कोई छवि नहीं मिलती। उनके 'कालिन्दी' 'पंचग्राम', 'नागिनी कन्या की कहानी' बंगाल के अनभिजात जीवन परिवेश से गठित जीवन्त शिल्परूप है। माणिक बंधोपाध्याय के 'पझा नहिर माझी', देवेश राय के 'तिस्ता पारेर वृत्तांत' में भी शोषण और दमन के विरुद्ध इन व्रात्यजनों के अधिकारों के लिए संघर्ष की ही कथा है। कदाचित् यही कारण है कि बंगाल का समकालीन परिवेश पहले से बदला है। हस्तशिल्प मेला, शबर मेला, राजवंशी, संथाल भाषाओं की अकादमी, जंगल–महल नाम से परिचित आदिवासी इलाके का सरकारी व गैर सरकारी संस्थाओं तथा विद्वजनों का बाहर दौरे पर जाना तथा अस्पताल तथा स्कूलों का खोलना एवं अन्य सुविधाएँ प्राप्त करवाना भी इस परिवर्तन के सूचक है। परन्तु सभ्य नागरिक समाज ने उन्हें कितना अपनाया है उस पर आज भी एक प्रश्न चिन्ह है। भारत के अन्य क्षेत्रों की छवि शायद इतनी आश्वस्त नहीं करती। मराठी आदिवासी कथाकार बाहरू सोनवणे की कविता 'स्टेज' में, सभ्य समाज के विश्वासघात की छवि कुछ इस प्रकार है :–

'हम स्टेज पर गए ही नहीं
जो हमारे नाम पर बनाई गई थी
हमें बुलाया भी नहीं गया,
उंगली के इशारे से हमारी जगह हमें दिखा दी गई
वह वहीं बैठ गए स्टेज पर, हमें खूब शाबासी मिली
और वे स्टेज पर खड़े होकर, हमारा दुख हमें ही बताते रहे
हमारा दुख अपना ही रहा, जो कभी उनका हुआ ही नहीं....!!'

यह सचमुच एक आश्चर्यजनक बात है कि हमारे देश में सदैव अन्य बातों की अपेक्षा यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है कि मनुष्य किस धर्म एवं किस जाति में पैदा हुआ है क्योंकि इन्हीं बातों से संबंधित व्यवस्थाओं के आधार पर मनुष्य के जीवन की संपूर्ण अवधि के क्रियाकलाप प्रभावित होते है।

मनुस्मृति की सामाजिक व्यवस्था ने शूद्रों, दासों एवं निर्बल वर्ग के विरुद्ध सभी प्रकार के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में न्याय के अधिकार कानूनन रूप से बंद कर दिए थे। यही नहीं, मनुस्मृति समेत अनेक स्मृतिकारों और धर्म सूत्रों के रचयिताओं ने जाति संख्या के विद्यमान नियमों को संहिताबद्ध किया था। साथ ही उन्हें और शक्तिशाली बनाने के लिए उन्हें दार्शनिक और सामाजिक आधार भी प्रदान किया था। कौटिल्य ने तो चांडालों का निवास शमशान–भूमि बताया था। मनुष्य के लिए इससे अधिक अपमानजनक और क्या हो सकता है?

इस संदर्भ में नृविद्याविद् प्रो0 क्रुक उत्तर पश्चिमी भारत की जातियों पर नृवंशविद्या संबंधी नोट्स में लिखते हैं कि आधुनिक भंगी प्रत्यक्ष रूप से मनु के 'चांडाल' के प्रतिनिधि हैं, जिन्हें एक शूद्र व ब्राह्मण स्त्री से आए हुए माना जाता है; जिन्हें इसके लिए निर्दिष्ट था कि वे शहर के बाहर रहे, जिसकी सम्पत्ति कुत्ते और गधे बतलाया गया जिनके कपड़े मृत लोगों से उतारे गए हों, जिनकी तश्तरियाँ टूटी हुई हों। जाति के तर्कशास्त्र कठोर एवं महत्वपूर्ण थे इसलिए उसी के आधार पर जातियों की पहचान बनी। साथ ही अस्मिता के सवाल भी उभरे। दलितों के भीतर 'अछूतपन की वेदना' रही। उधर पुरोहित वर्ग अपने को और मजबूत बनाने और अपनी स्थिति को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए पुस्तकें रचने लगे। इस प्रकार शूद्र अति शूद्र समाज के शोषण का कालचक्र उनके आसपास घूमता रहा। बावजूद इन सबके 'बहुजन समाज' के सम्मान और अस्तित्व को स्थापित करने के लिए इन्हीं कालखण्डों में परिवर्तन भी हुए। सदियों से शोषित और अपमानित बहुजन समाज के बीच संघर्ष की ज्वाला पहले से ही धधकती रही थी। भारत में दलित जातियों की अस्मिता और संघर्ष का लम्बा इतिहास रहा है। यद्यपि दलित आलोचकों का कहना है कि इतिहासकारों ने उनके संघर्ष को इतिहास से काटकर अलग

रखने का प्रयास किया तथा उनका चित्रण वैसा नहीं किया गया जैसा कि होना चाहिए था। सामाजिक जीवन में उनका स्थान हाशिये पर ही रहा। शिक्षा और संस्कृति के मोर्चे पर वे बार–बार हारे। बावजूद इन सबके, उनके भीतर आन्दोलन के प्रति स्पंदन अवश्य था।

डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के विचार में यह बात तो अपने आप में स्पष्ट है ही कि शताब्दियों तक शोषित और उत्पीड़ित अवस्था में रहने तथा बाद में इस्लामी संस्कृति के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप उनके बीच एक खास तरह का परिवर्तन आया था। कहना नहीं होगा कि उसी परिवर्तन को संत कवियों की चेतना से जोड़ा था। इन कवियों ने ही पहली बार उनके अधिकारों का मान कराया था। इसी के परिणामस्वरूप भारत के धार्मिक इतिहास के पन्ने शूद्र भक्तों के नाम से भरे पड़े हैं, जिनका स्मरण आज भी सम्मानपूर्वक सभी वर्णो के सदस्य करते हैं। इन सतों के कारण ही भारतीय समाज को अपने चिंतन में अस्पृश्यता और वर्ण–व्यवस्था की कूप–मडूंकता से बाहर आना पड़ा। उन्होंने सामाजिक क्षेत्र में सबसे बड़ा काम यही किया कि श्रम और श्रमिक को प्रतिष्ठा दिलाई।

प्रायः समस्त भारत का भक्ति काव्य इसी तरह की भावना को लेकर रचनाधर्मिता से जुड़ा था। हिन्दी के कबीर, जायसी, रैदास, से लेकर मराठी के संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, गुजराती के नरसी मेहता, दादू दयाल, राजस्थान की मीराबाई, पंजाब के गुरुनानक, बांग्ला के गौड़ीय वैष्णव कवि चैतन्य महाप्रभु जिनके दो खास शिष्य जगाई – माधाई निम्न वर्ग के थे। असमिया के शंकरदेव, कश्मीर की लालडेड आदि सभी सामाजिक न्याय और जमीन से जुड़े रचनाकार थे।

संत रविदास ने भारतीय समाज और विशेष रूप से दलित, पिछड़ों को मुक्ति का संदेश दिया, स्वतंत्र होने का संदेश दिया, गुलामी के प्रति विद्रोह का संदेश दिया और उन्हें उनके अधिकारों के प्रति संचेत किया –

'पराधीनता पाप है, जान लेहू रे मीत,
रविदास दास प्राधीन सों कौन करे हैं प्रीत!'

सन् 1857 की संग्राम में हाशिए पर रहने के बावजूद दलितों ने आजादी की जंग में गैर दलितों की तरह ही हिस्सा लिया था। हरियाणे का चेतराम जाटव, वीटा पासी, झाँसी की विरांगना झलकारी बाई, बंगाल के मेदिनीपुर जिले की चुआड़ रानी शिरोमणी आदि के अंग्रेजों के विरुद्ध बलिदान की गाथा कभी भुलाई नहीं जा सकती। इन पर साहित्य भी कम नहीं रचे गए हैं।

अतीत से लेकर वर्तमान तक यदि नजरे दौड़ाएँ तो देखेगे दलित साहित्यकारों में द्विवेदी युगीन लेखक हीरा डोम से लेकर ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला

टाकभरे, पुन्नी सिंह तक कई विशिष्ट दलित लेखक हुए हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्पादित 'सरस्वती' पत्रिका में प्रकाशित हीरा डोम की कविता को ही कई विद्वान पहली हिन्दी दलित कविता मानते हैं। दलितों पर लिखने वाले गैर दलित लेखक भी कम नहीं है– जिनमें प्रेमचंद, नागार्जन, धूमिल, अमृतलाल नागर, गिरिराज किशोर, मणिका गुप्ता आदि हुए हैं। प्रेमचंद की 'सद्‌गति', 'कफन' और ठाकुर का कुँआ आदि कहानियाँ में निम्नवर्ग की पीड़ा और अपमान का हृदय–विदारक वर्णन हैं।

बंगाल के दलित लेखकों में महीतोष विश्वास, तृप्ति सांत्रा, नीतीश विश्वास, त्रिपुरा के अनिल सरकार आादि ने जहाँ निम्नवर्ग के दयनीय, सामाजिक दुर्भाग्य और अपमान को बार–बार रेखांकित करने की कोशिश की है, वहीं गैर–दलित लेखक जैसे रवीन्द्रनाथ से लेकर महाश्वेता देवी रामकुमार–मुखोपाध्याय तक के साहित्य में इन प्रांतवासियों की सुख–दुख, आशा–निराशा, क्षोम–पीड़ा, सपने देखने की और उन सपनों के टूटने की कथा बार–बार दोहराई गई है।

पश्चिम बंगाल में दलितों की अवस्था में परिवर्तन लाने का श्रेय यदि किसी को है तो वह है हरीचन्द्र ठाकुर। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने वाले हरिचन्द ठाकुर ने सामाजिक भेदभाव से प्रभावित लोगों का सुधार करने के लिए नई धार्मिक आस्था 'मतुआ मत' की प्रतिष्ठा की। सभ्य समाज की मूढ़ता, अज्ञानता को समाप्त करने तथा शिक्षा के प्रचार–प्रसार में लोगों ने उनसे प्रेरणा ली। चांडालों को 'नमः शूद्र' नाम देकर एक अलग धर्म की स्थापना की जिसके केन्द्र में मानव और मानवता थी। हरिचन्द्र के अनुसार – शिक्षित बनें, कठिन परिश्रम करें, धन कमाएँ तथा संगठन के कोई भी नस्ल बलहीन है। जिस जाति का कोई राजा नहीं, वह मृत समान है।

ढाका में, 13 दिसम्बर, 1910 में नमःशूद्र समाज की एक सभा शशि भूषण राम के घर पर हुई जिसमें लगभग 500 लोग आए थे। इस सभा में सभी का यह मानना था कि सवर्ण हिन्दुओं की तरह उन्हें भी विशेषाधिकारों की जरूरत है। सभा की अध्यक्षता पूर्व न्यायाधीश हिन्दी के बहुत बड़े समर्थक शारदाचरण मित्र ने की थी। उस समय कई अखबारों ने इसे दलितों के द्वारा समाज में आए परिवर्तन की बात कही।

पश्चिम बंगाल में दलितों की अवस्था अन्य प्रदेशों की तुलना में बेहतर है या नहीं यह तो तर्क सापेक्ष है, परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि दलित हो या आदिवासी या जनजाति उन्हें किसी की सहानुभूति या दया की आवश्यकता नहीं है बल्कि समभाव और मैत्री की जरूरत है। बंधुत्व के वातावरण में 'तुम भी मेरे जैसे ही एक इन्सान हो और इन्सान लायक जिन्दगी जीने के लिए हर एक सुविधा के हकदार हो'।

सामाजिक अस्मिता, विकास और मानवाधिकार *

डॉ0 आर. पी. सिंह

मानव अधिकारों का प्रश्न आज अंतरराष्ट्रीय चर्चा का विषय है। आज विश्व के अनेक देशों के निवासी बुनियादी मानव अधिकारों से वंचित हैं। इनमें वे देश भी शामिल हैं, जो हाल में औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए हैं, तो कुछ ऐसे देश भी हैं जो स्वाधीन होते हुए भी अपने नागरिकों को अपेक्षित मानव अधिकार नहीं दे पाये।[1] मानव अधिकारों से वंचित लोगों का क्षेत्र विश्व के प्रायः प्रत्येक महाद्वीपों में व्याप्त है। चाहे एशिया हो या अफ्रीका, लैटिन अमेरिका हो या यूरोप किसी न किसी रूप में मानव अधिकारों का प्रश्न आज के समाज, राजनीतिक नेताओं और मानव चेतना से संबंध रखने वाले वर्गों के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ा है। इसमें विकसित, विकासशील और अल्पविकसित देश, सभी शामिल हैं।

मानव अधिकार विषय अंतरराष्ट्रीय कार्यसूची में तत्काल क्रियान्वयन की मांग वाला एक शक्तिशाली नवीन संस्करण है। इस प्रकरण का अभ्युदय द्वितीय विश्वयुद्ध (1939–45) के पश्चात् हुआ। इस प्रकार यह निकटभूत की ही स्वीकृति है यद्यपि यह विचार निश्चित रूप से पुरातन है, जिसे भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता था। आज मानव अधिकार, स्वीकृत शब्द है। यह उन अधिकारों को कहा जाता है जो मनुष्यों को इसलिए प्राप्त हैं, क्योंकि वे मनुष्य हैं। यूरोप में अधिकारों की अवधारणा बारहवीं शताब्दी तक अभयुदित नहीं हो पायी थी, लेकिन प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त अवश्य ही चौदहवीं शताब्दी तक विकसित हो चुका था।[2] तदन्तर प्राकृतिक अधिकारों के संबंध में दो भिन्न विचारधारा प्रकट हुई। इसमें से एक का प्रतिनिधित्व टामस हाब्स (1588–1679) और दूसरे का प्रतिनिधित्व जान लॉक (1632–1704) करते हैं।[3] हाब्स ने मनुष्य को उसकी प्राकृतिक अवस्था में तकरीबन असीमित अधिकार प्रदान किया था, जिनका उसने नागरिक समाज में प्रवेश करते ही पूर्णरूप से परित्याग कर दिया था। हाब्स का प्राकृतिक सिद्धान्त उसके निरपेक्ष सिद्धान्त से संबंधित है। दूसरी तरफ, जान लॉक सामाजिक शान्ति के आश्वासन पर प्राकृतिक अधिकारों को आंशिक समर्थन की बात करता है तथा इन अधिकारों में से जिन्हें समर्पित नहीं किया गया है वे नागरिक समाज की स्थापना के पश्चात भी मानवों में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार, लॉक की मान्यता है कि सरकार में

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (इंदौर) में पढ़ा गया आलेख।

#प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

निरपेक्ष सत्ता न थी और न हो सकती है। प्राकृतिक अधिकारों के सीमित संख्या में समर्पण के परिणामस्वरूप एक समिति सरकार का अभ्युदय हुआ। मनुष्य ने जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की इस व्याख्या ने अनेक क्रान्तियों को वैचारिक समर्थन प्रदान किया। दूसरे शब्दों में, जनता को एक उत्पीड़क सरकार को चुनौती देने का प्राकृतिक अधिकार है।

लॉक के सिद्धान्त के प्रत्यक्ष परिणाम इस प्रकार हैं, प्रथम, प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों को समान अधिकार प्राप्त थे। किसी को न अधिक और न किसी को कम। द्वितीय, प्राकृतिक अधिकारों के रख–रखाव व संरक्षण ने सरकार की सत्ता पर एक निश्चित सीमा निर्धारित कर दी। इस प्रकार, लॉक के सिद्धान्त का सम्पूर्ण संदेश स्पष्ट था अर्थात् एक सरकार अपने नागरिकों के अधिकारों का अतिक्रमण करे तो वह स्वामित्व का दावा खो देगी तथा उसे वैध आधार पर सत्ता से बे–दखल किया जा सकता है। समय के साथ–साथ प्राकृतिक अधिकारों की बार–बार पुष्टि होती रही है, जैसे कि अमेरिकी स्वतंत्रता–घोषणा ने यह पुष्ट किया कि सभी मनुष्य समान बनाये गये हैं और उन्हें निश्चित अपृथक्कनीय अधिकारों से विभूषित किया गया है और इन अधिकारों में जीवन, स्वतंत्रता और आनन्द अनुसरण के अधिकार है।[4]

आज के मानव अधिकार प्राकृतिक अधिकारों के उदारवादी सिद्धान्त की संतान हैं। कुछ मानव अधिकार, इस अर्थ में प्राकृतिक अधिकार हैं कि वे मनुष्य के लिए प्राकृतिक हैं, मनुष्यों को वे मनुष्य होने की प्राकृतिक क्षमता के कारण प्राप्त हैं, न कि किसी विशेष कानूनी व्यवस्था के कारण जिनके अधीन वे रह रहे हैं। मानव अधिकार, अधिकांशतया, राज्य के विरूद्ध दावे हैं; ये अधिकार राज्य को निरन्तर स्मरण दिलाते रहते हैं कि इनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है और इनका अस्तित्व राज्य–निर्माण से पूर्व भी था और ये स्वायत्त हैं। अतः राज्य, समाज और मानव को इन अधिकारों का सम्मान करना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर तथा मानवाधिकार

1945 में संयुक्त राष्ट्रसंघ संविधान स्वीकार करने के पश्चात इस संघ ने 1948 में 'मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की।[5] संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने चार्टर में 'मानव के मूल अधिकारों में, मानव की गरिमा एवं महत्व में तथा छोटे–बड़े सभी राष्ट्रों के समान अधिकारों में आस्था व्यक्त किया। वस्तुतः संघ की स्थापना जिन उद्देश्यों के लिए की गयी थी, उनमें से एक उद्देश्य है– जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के आधार पर बिना भेदभाव किये समस्त लोगों के लिए मानव अधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान को बढ़ावा देने व उन्नत करने में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना। इस हेतु सार्वभौमिक घोषणा में कुल 30 अनुच्छेद शामिल किये गये। इन प्रावधानों में जन्म से सभी मानव को समान, मूलवंश, रंग, लिंग, धर्म, राजनीतिक तथा आर्थिक मत, राष्ट्रीय व

सामाजिक उद्‌भव, सम्पत्ति अथवा किसी अन्य आधार पर विभेद का निषेध, जीवन, स्वतंत्रता एवं व्यक्ति की सुरक्षा का अधिकार, दासता एवं अधिकारिता से मुक्ति तथा दास व्यापार का प्रतिशेध, यंत्रणा, निर्दय, अमानवीय एवं अपमानजनक व्यवहार तथा दण्ड से मुक्ति, विधि के समक्ष समानता एवं विधि का समान संरक्षण, संविधान व विधि का समान संरक्षण, संविधान व विधि द्वारा प्रवर्तित मूलाधिकारों की रक्षार्थ प्रभावी विधिक उपचार का अधिकार, मनमानी गिरफ्तारी, विरोध तथा निर्वासन से व्यक्ति की मुक्ति इत्यादि जैसे अनेक प्रावधान किये गये हैं। इसके अंतर्गत मानवाधिकारों की छः श्रेणियाँ बनायी बनायी गयी हैं, जैसे– सर्वप्रमुख, जीवन का अधिकार है, जिसमें हत्या न की जाय, शारीरिक रूप से परिताड़ित न किया जाय, जीवन की भौतिक आवश्यकताओं से वंचित न किया जाय तथा स्वास्थ्य की देख–रेख की जाय। दूसरे श्रेणी में विचार और अभिव्यक्ति, धर्म, संगठन बनाने का भ्रमण की स्वतंत्रताएँ सम्मिलित हैं। तीसरी श्रेणी में सम्पत्ति का अधिकार है, जिसे राज्य सबसे कम महत्व दे रहे हैं। चतुर्थ श्रेणी में एक नागरिक के रूप में व्यक्ति की प्रतिष्ठा जैसे राष्ट्रीयता का अधिकार तथा प्रजातांत्रिक अधिकार सम्मिलित हैं। पाँचवीं श्रेणी राज्य के व्यवहार को देश के कानूनों में विधि का शासन, न्यायिक पुनर्विलोकन, न्यायपूर्ण जाँच का अधिकार, स्वेच्छाचारी बंदीकरण से प्रताड़ित न होने के अधिकार इत्यादि द्वारा नियमन करना है। छठवीं श्रेणी के अंतर्गत नवीन व प्रोत्साहनकारी अधिकार जिनमें सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रकृति के अधिकार शामिल हैं। इनमें शिक्षा का अधिकार, कार्य करने, सामाजिक सुरक्षा, आराम व आनन्द उठाने और न्यूनतम जीवन स्तर के अधिकार सम्मिलित हैं।

1947 में स्वतंत्रता के पश्चात् निर्मित व अंगीकृत भारतीय संविधान में भाग–3 मौलिक अधिकारों से संबंधित हैं[6] जिनमें कुल 7 मौलिक अधिकार थे, जिनकी संख्या 44वें संविधान द्वारा 6 कर दी गयी है। इसमें समानता व स्वतंत्रता का अधिकार, षोषण के विरुद्ध अधिकार, धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार व सांविधानिक उपचारों का अधिकार सन्निहित हैं। इन अधिकारों का विवेचन निश्चित गैर–न्याय संगत अधिकारों के साथ किया जाता है, जो संविधान के भाग–4 के 'नीति निदेशक तत्वों में निहित हैं, जैसे कि काम पाने का अधिकार, श्रमिकों के लिए जीवन योग्य वेतन तथा बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा इत्यादि।

भारत में मानव अधिकार आंदोलनों की भावनाओं के अनुरूप 'राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग' की स्थापना 28 सितम्बर, 1993 को भारत के राष्ट्रपति द्वारा जारी अध्यादेश के माध्यम से हुई, जिसे मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम–1993 के द्वारा प्रतिस्थापित किया गया, जो 1994 में क्रियाशील हुआ। इसके अन्तर्गत केन्द्र स्तर पर 'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' व राज्य स्तरों में 'राज्य मानवाधिकार आयोगों' की स्थापना के प्रावधान हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग में एक अध्यक्ष तथा चार सदस्यों की

नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। इसमें अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष, अनुसूचित जाति एवं जनजाति राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष तथा राष्ट्रीय महिला आयोग के अध्यक्ष शामिल होते है। आयोग का महासचिव इसका मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता है। अध्यक्ष सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश अथवा सेवानिवृत्त मुख्य न्यायाधीश होता है। आयोग को सिविल प्रक्रिया संहिता–1908 के अन्तर्गत सिविल न्यायालय की शक्ति प्राप्त है और इसकी कार्यवाही न्यायिक कार्यवाही मानी जाती है। आयोग की संरचना की मानव अधिकारों के संरक्षण के लिए की गयी है। ये अधिकार हैं – जीवन, समानता तथा मानव गरिमा, जो संविधान द्वारा प्रत्याभूत हैं या अंतर्राष्ट्रीय संविदा में निहित हैं तथा जो भारतीय न्यायालयों द्वारा लागू किये जाते हैं। आयोग मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु प्रयासरत है। आयोग ने समाज के कमजोर वर्गों के मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु प्रयासरत है। आयोग ने समाज के कमजोर वर्गों के मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए जागरूकता एवं प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाया है। जमीनी स्तर पर मानवाधिकारों का अनुपालन न होना भारत की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक संरचना में निहित असमानता के कारण है।

समाजिक अस्मिता और विकास की रणनीति

भारतीय समाज की संरचना में निहित तत्व ही सामाजिक अस्मिता के संवर्द्धन अथवा विखण्डन के लिए उत्तरदायी हैं। भारत में प्राचीनकाल से ही जाति वे राजनीति का अटूट संबंध रहा है। वस्तुतः हमारी सामाजिक व्यवस्था ही भारतीयता पर आधारित है और राजनीति का विकास समाज से ही होता है। हमारे देश में समाज जाति व आर्थिक आधारों पर पहले भी बँटा था और आज भी। बल्कि यह कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा कि पूर्व में जाति ने और आज जाति और अर्थ दोनों ही सामाजिक ढाँचे को अपने स्वार्थ सिद्धि हेतु प्रयोग कर रहे हैं।[7] 1991 की आर्थिक उदारीकरण नीति से विकास की रणनीति को मिश्रित आर्थिक प्रणाली से उपभोक्तावादी प्रणाली में परिवर्तित करके अमीर–गरीब की खाई को और अधिक गहरा किया है। पूर्व में जाना यह जाता था कि आर्थिक विकास, सामाजिक विकास को पुनर्बलित करेगा, लेकिन सामाजिक विकास के पुनर्बलन के साथ–साथ सामाजिक रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ भी संचार व प्रौद्योगिकी साधनों की सहायता से पुनर्बलित हुईं। आज जनमानस अपने अर्द्ध–सामन्ती सोच व विकास को साथ लेकर चल रहा है। खाप पंचायतों के गैर–कानूनी निर्णयों को राजनीतिक समर्थन ने उन्हें कानून जैसी मान्यता प्रदान की है। निर्धनता निर्धारण के असमंजस से लेकर सगोत्रीय विवाह तक में भारतीय राजनीति व जनता संक्रमणकाल के दौर की सी चुप्पी साधे हैं।

समर्थ (राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक) व्यक्तियों के मानवाधिकारों की रक्षा तो प्रशासन करता है, लेकिन असमर्थ, निर्धन, वंचितों के मानवाधिकार हाशिए पर डाल

दिये जाते हैं। आज सवाल यह है कि वंचित वर्गों के मानवाधिकारों की रक्षा कौन करेगा? शायद नहीं! भारत में नीति–निर्माण प्रक्रिया में वे ही भागीदार होते हैं, जो समर्थ होते हैं। यहाँ प्रश्न लाज़मी है कि निर्धनों को कौन न्याय दिलाएगा? जाहिर है कि नीति निर्माण कुछ चुनिन्दा व्यक्तियों द्वारा ही निर्धारित किये जाते हैं।[8]

भारत जैसे देश में जहाँ निरक्षरता, उदासीनता अपने चरमोत्कर्ष पर है। वहाँ आम जन की जरूरतें कौन पूरी करेगा?

अतः भारत जैसे देशों में मानवाधिकारों की रक्षा, निर्धनों व वंचितों के हक की लड़ाई 'अधिकार आधारित वैकासिक दृष्टिकोण' से हो सकती है। समावेशी विकास व मानवाधिकारों की रक्षा एक ऐसा तंत्र कर सकता है जो दावा करने वालों और कर्तव्य निर्वहन करने वालों, दोनों को मानवाधिकारों के वास्तविकीकरण हेतु करता है। इसमें सिविल सोसाइटी संगठनों की अहम भूमिका हो सकती है। ये संगठन ऐसे जनसमूहों की पहचान से लेकर सरकार को याद दिलाने तक का कार्य करते हैं, क्योंकि वंचितों के दावों के लिए कोई आवाज नहीं होती है।

---

[1]तिवारी, आर0 सी0, अंतर्राष्ट्रीय, फैजाबाद, भारतीय पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2010, पृ0 340

[2]पद्मनाभन, के0 के0 (संपादित), भारत का संविधान और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, नई दिल्ली, स्पेक्ट्रम बुक्स प्रा0 लि0, 2011, पृ0 324

[3]महेश्वरी, श्री राम, तुलनात्मक राजनीति, आगरा, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता, 2002, पृ0 187

[4]वही, पृ0 187

[5]कपूर, एस0 के0, मानव अधिकार एवं अन्तर्राश्ट्रीय विधि, इलाहाबाद, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, 2005, पृ0 656

[6]पद्मनाभन, के0 के0 (संपादित), भारत का संविधान और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, नई दिल्ली, स्पेक्ट्रम बुक्स प्रा0 लि0, 2011, पृ0 325

[7]वही, पृ0 325

[8]दूबे, अभय कुमार (संपादित), भारत का भूमण्डलीकरण, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2007, पृ0 207

सामाजिक न्याय, भारतीय परिदृश्य तथा मानव अधिकार : एक विमर्श*

#डॉ0 जोराम आनिया ताना

बहुभाषिक एवं बहुसांस्कृतिक वाले भारत वर्ष जब सन् 1947 ई. को स्वतंत्र देश के रूप में दुनिया के सामने आता है, तो सर्वप्रथम व्यवस्थित शासन के लिए संविधान की आवश्यकता पड़ी। अतः सन् 1949 ई. में संविधान तैयार हो गए। जब सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकारों की बात होती है तो मानव अधिकारों के प्रति भारत की निष्ठा संविधान के प्रस्तावना एवं इसके विभिन्न प्रावधानों में स्पष्ट देखी जा सकती है। लेकिन यथार्थ के धरातल पर इन्हें सुनिश्चित करना निश्चित ही आसान नहीं दिखता। जैसे कि संविधान–सभा के समापन–सत्र को संबोधित करते हुए देश के तत्कालीन कानून–मंत्री और भारतीय संविधान के निर्माता डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने कहा था, "हम आज से एक दोहरी जिंदगी जिएँगे। संविधान में प्रत्येक व्यक्ति समान है। समाज में कोई जाति–वाद नहीं होगा, ऐसा कोई भेद–भाव ऐसा कुछ भी नहीं होगा, जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के खिलाफ खड़ा कर दे। लेकिन व्यवहार में हम वैसे ही बनें रहेंगे, जातिवादी, सामंती प्रवृत्ति वाले, महिला–विरोधी और वह सब कुछ, जिसे संविधान–सभा ने बदलना चाहा है, ऐसा इसलिए है कि हमारे पास सांविधानिक नैतिकता नहीं है, जिसे विकसित होने में शताब्दियाँ लग जाती है हमने हजारों वर्षों भी गुलामी में वह सब कुछ गँवा दिया है।" अतः डॉ0 अम्बेडकर का कहना है कि सांविधानिक नैतिकता एक स्वाभाविक भावना नहीं है, उसे प्राप्त करना होता है। हमारी जनता को उससे अभी भी सीखना है।

दुनिया में संभवतः ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ इतनी विविधतापूर्ण प्रवृत्तियाँ एवं संस्कृतियाँ हो, जितनी कि भारत में। यह विविधता क्षेत्रीय, धर्म, लिंग, जाति, भाषा आधारित है। आर्थिक एवं भौक्षिक स्थिति आधारित भेद इतना अधिक व्याप्त है कि आज सामाजिक जीवन आम एवं खास आदमी के नाम से संबोधित किया जाने लगा है। आम आदमी वह है जो सिर्फ वोट डालने के समय नेताओं के प्रिय होते है। चुनाव के समय चारों तरफ आम आदमी के रहनुमा होते हैं, लेकिन यही आम आदमी कभी मँहगाई से तो, कभी भ्रष्टाचार से लड़ता है और मंदिर या धार्मिक स्थलों में होने वाली भगदड़ की घटनाओं में कीड़े–मकोड़ों की तरह श्रद्धालुओं को अपनी जान से हाथ गँवाना पड़ता है। हम आप सभी जानते हैं कि मध्य प्रदेश के दतिया जिले के रतनगढ़ में भगदड़ में लगभग

---

*त्रिपुरा में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख।

#सहायक प्रोफेसर, हिन्दी, ईटानगर।

115 लोगों की जान चली गई। हालाँकि इस तरह के हादसों को टाला जा सकता था। प्रशासन की ओर से थोड़ा सा ध्यान दिया जाता तो। लेकिन यह आदमी, समाज में आम है इसलिए राजनीति में भी चुनाव के वक्त ही यह भीड़ खास बन सकती। चूँकि वर्तमान समाज खास एवं आम आदमी में वर्गीकृत है। इन्हीं आम आदमी में शारीरिक एवं इससे जुड़ी अनेक अक्षमताओं से ग्रस्त लोग है। इसके अलावा प्राकृतिक आपदाओं से ग्रसित लोग। जैसे हाल ही में उत्तराखण्ड में आई भारी बाढ़ से लाखों लोग बेघर, बेसहारा हो गए। ऐसे आम जनता की अधिकारों की रक्षा जरूरी है। इसी प्रकार नगरीकरण, औद्योगिक से कई लाखों जन अपनी मूल निवास स्थान से विस्थापित होते हैं और बेघर होते है।

आर्थिक प्रगति के नाम पर अन्य कई कमजोरियाँ सामने आती है जिनमें झुग्गी–बस्तियों में रहने वाले लोग, औद्योगिक श्रमिक तथा पर्यावरण से प्रभावित लोग शामिल है। यही कारण है कि दरिद्रता बढ़ती जा रही है। दरिद्रता गरीबों को शक्तिहीन कर देती है, जिससे वे अपने अधिकारों के लिए भी लड़ने की इच्छा शक्ति खो देते है। गरीबी वातावरण को प्रदूषित करती है, प्रशासनिक व्यवस्था को भ्रष्ट करती है और मनुष्य को अमानवीय बनाती है जैसे मानव तस्करी करना, मानव अंगों का तस्करी हत्या आदि। इसलिए भारत को मानव अधिकार एवं सामाजिक न्याय मामले में लम्बी यात्रा तय करनी है। वो इसलिए कि अब भी भारतीय नारियाँ सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए प्रयत्नशील है। आज भी नारी के प्रति सम्मान और समानता की भावना पनप नहीं पाई है। समाज में नारी के प्रति जो कुभावनाएँ पनप रही है, वह चिन्ता का विषय है। मैं यहाँ जातिविहीन समाज अरूणाचल प्रदेश का उदाहरण रखती हूँ। इस समाज में स्त्री–पुरूष का भेद नहीं है। हालांकि पितृसत्तात्मक समाज होते भी लड़का–लड़की को समान दृष्टि से देखा जाता है। बलात्कार जैसी घटनाएँ आज से दस साल पहले न के बराबर था। लेकिन बहुत दुख की बात यह है कि इसी वर्ष बलात्कार की आठ घठनाएँ हमारे सामने आई। यहाँ अत्यन्त दुख एवं अमानवीय तथ्य यह है कि इन घटनाओं में सब बच्चियाँ है, जिसकी उम्र साढ़े तीन साल से लेकर 14 साल तक है। बालिक लड़कियों के साथ इस तरह की घटनाओं की जानकारी अभी तक सामने नहीं आई। इन मासूम बच्चियों को इस तरह की शोषण अत्याचार से रक्षा करना अति आवश्यक है। सामाजिक मूल्यों का जबरदस्त हनन हो रहा है। इन घटनाओं में अधिकतर परिवार के जान पहचान वाले व्यक्ति ही बच्चियों के साथ इस तरह की कुकृत्यों को अंजाम देते है।

देश के अलग–अलग क्षेत्रों में नारी मुक्ति संबंधित विषयों पर विभिन्न संगठन कार्यरत है। नारी के साथ होने वाले शोषण, अत्याचार को रोकने एवं उनके अधिकारों की रक्षा के लिए भारत सरकार ने महिला आयोग गठित की। महिलों की शिक्षा को बढ़ावा देने

के लिए समय–समय पर नियम–कानून बनाये जाते हैं। इससे महिला शिक्षित ही नहीं, बल्कि विभिन्न पदों पर नियुक्तियाँ हो रही हैं। लेकिन शिक्षा नारी के प्रति सम्मान दिला सकती है। 100 प्रतिशत साक्षरता वाली राज्य केरल में महिलाओं के खिलाफ अपराधिक रिपोर्ट सबसे अधिक है–11288 (यह आंकड़े 2011 की है) जबकि 66.95 प्रतिशत साक्षरता दर वाले राज्य अरूणाचल प्रदेश में 171 और नागालैण्ड में 38 है। जबकि शिक्षा से असमानता, अमानवीयता समाप्त हो सकती है। ऐसा माना जाता हैं कि बालिका को शिक्षा दे दी जाती है तो शेष चीजें अपने आप आ जाती है। लेकिन भारतीय शिक्षा सामाजिक पूर्वाग्रहों से ग्रसित है। इसलिए भाायद शिक्षा की सही मायने को समय नहीं पा रही या सामाजिक पूर्वोग्रहो से ग्रसित है। इसीलिए भाायद शिक्षा की सही मायने को समक्ष नहीं पा रही या सामाजिक पूर्वोग्रह के भार से बहुत अधिक दबे हुए है। जबकि सारी दुनिया यह मानकर चलती है कि शिक्षा संबंधी उपलब्धि मानवोचित प्रशासन और आर्थिक सफलता एक–दूसरे से नजदीकी से जुड़े हैं, इसका अर्थ यह है कि एक राष्ट्र के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का संघर्ष सबसे पहले विद्यालय स्तर में भाुरू होता है। शिक्षित समाज में नैतिकता के पतन का कारण यह भी हो सकता है कि राज्य–प्रशासन तंत्र का नैतिक आधार आर्थिक आधार में बदल गया है। अधिक धन उत्पन्न करना अच्छे विकास के मापदण्ड बन गया, न कि गरीबी में आई कमी, समानता या सब के लिए निष्पक्ष व्यवहार।

गाँधीजी ने कहा था "अगर तुम गलत या सही के बारे में कोई फैसला नहीं ले सकते तो गरीबों के बारे में सोचो, उनके उदास भूखे चेहरे और आँखों को देखो तथा सोचो एवं फेसला करो कि उनकी मदद सर्वोत्तम तरीके से कैसे की जा सकती है और वही सही निर्णय होगा।" भारतीय संविधान गाँधीवाद का कानूनी प्रतिरूप है, जिसमें नागरिकों को मिले मौलिक अधिकारों को सामाजिक न्याय का आधार कहा जा सकता है।

सुशासन में महिलाओं की भागीदारी *
(उत्तर–पूर्व के विशेष संदर्भ में)

#डॉ0 जोराम आनिया ताना

पूर्वांचल के आठ राज्यों, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक जीवन अन्य शेष भारत के राज्यों से भिन्न होते हुए भी ये प्रदेश भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। जनजातीय बहुल पूर्वोत्तर के लोग सरल, स्नेह एवं बंधुत्व भावना से ओत प्रोत प्रकृति के बहुत निकट है। घाटियों एवं पर्वतों के बीच बसा यह भूभाग प्राचीन काल में प्रागज्योतिषपुर, कामरूप, असम आदि नामों से जाना जाता था। अब अरूणाचल प्रदेश, असम, मेघालय, नागालैण्ड, मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा और सिक्किम के नाम से जाने जाते हैं। इन्हें आठ बहनें भी कहा जाता है। इन आठ राज्यों में से मेघालय में मातृ सत्तात्मक व्यवस्था है। इस राज्य में मुख्य तीन जनजातियाँ निवास करती हैं – खासी, गारो, जनतिया। इन जनजातियों में सम्पत्ति का अधिकार परिवार में सबसे छोटी लड़की को मिलती है। यहाँ की मातृ सत्तात्मक व्यवस्था अद्भुत है। जब–जब कन्या भ्रूण हत्या की बात सुनती हूँ तब ईश्वर से प्रार्थना करती हूँ मेघालय की तरह मातृ सत्तात्मक व्यवस्था सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्थापित हो।

पूर्वोत्तर के अन्य सात राज्यों में पितृ सत्तात्मक व्यवस्था है, जहाँ कुल–वंश का चिराग पुत्र ही हुआ करता है, चाहे वह कुपुत्र ही सही। वंश तो उसी से चलती है। जहाँ महिलाओं की स्थिति लगभग वैसे है जैसे भारतवर्ष के अन्य महिलाओं की है। अन्तर इतना ही है कि यहाँ की महिलाएँ बहुत मेहनती होती है। घर के अलावा बाहर काम भी बखूबी निभाती है। चाहे ग्रामीण महिलाएँ हो या शहरी पुरुष या किसी अन्य की कमाई नहीं लेती। आर्थिक रूप से स्वतंत्र रहने के लिए भरसक प्रयास करती हैं। इसी प्रयास के चलते उन्हें दिन–रात मेहनत करती पड़ती हैं। ग्रामीण महिलाएँ जो अशिक्षित है, वह खेती करती है, खेती से सब्जी, फल को स्थानीय बाजार में बेचती है, उसी रुपये से घर–परिवार चलाती है, बच्चे को शिक्षा के लिए प्रेरित करती हैं। खेती के अतिरिक्त कड़ाई–बुनाई भी पूर्वोत्तर की महिलाओं के लिए आय का मुख्य साधन है। इस तरह यहाँ की महिलाएँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर रहती है। इस देश की अर्थव्यस्था में पूर्वोत्तर की महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान है जो अप्रत्यक्ष रूप से देश की शासन व्यवस्था को सुशासित करने में अपने तरह की महत्वपूर्ण योगदान है।

अरूणाचल प्रदेश 83743 वर्ग किलोमीटर में विस्तृत पूर्वोत्तर के अन्य राज्यों में से भौगोलिक दृष्टि से सबसे बड़ा राज्य है। लेकिन अधिकांश भूभाग घने जंगलों से ढका है।

यहाँ प्रमुख 26 जनजातियाँ और 110 बोलियाँ बोलने वाली जाति–उपजाति प्राचीन काल से निवास करती है। यहाँ की कुल जनसंख्या 1382611 है जिसमें महिलाएँ 662379 एवं पुरूष 720232 है। लिंग अनुपात 920 है। साक्षरता दर 66.95 है।

तेरह लाख ब्यासी हजार छह सौ ग्यारह में से लगभग तीन लाख जनसंख्या निशी जन जाति की है। अतः सबसे बड़ी जनसंख्या के रूप में स्वीकृत निशी जनजाति अरूणाचल के सोलह जिलो में से पाँच जिलों जो ईटानगर में है, शामिल है।

इस जनजाति की महिलाएँ प्राचीन काल से परिवार को सुशासित करके प्रशासन में अपना अप्रत्यक्ष योगदान देती थी। निशी जनजाति के पुरुष निडर एवं युद्ध प्रवीण हुआ करते थे। इसलिए कबीलाई युद्धों में पुरुष मारे जाते थे। ऐसे में विधवा महिलाओं को सामाजिक सुरक्षा के नाम पर किसी न किसी पुरुष का सहारा लेनी पड़ती थी। इसलिए इस जनजाति के समाज में बहुपत्नी विवाह की परम्परा चल पड़ी। इस तरह आगे चलकर एक पुरुष के 20–25 पत्नियाँ हुआ करती थी। लेकिन इनके बीच सौतिया दाह जैसी घटनाएँ कम देखी जाती थी। इस कारण यह था कि पहली पत्नी को अन्य सभी पत्नियाँ सास मानती और सम्मान करती थी। पहली पत्नी के लिए यह गौरव का विषय था। सभी महत्वपूर्ण निर्णय पुरुष प्रथम स्त्री से ही विचार–विमर्श करते। सम्पूर्ण परिवार को सुनियोजित कर आर्थिक सामाजिक रूप से सक्षम बनाने में प्रथम स्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। इस तरह प्राचीन काल में निशी जनजाति की महिलाएँ सुशासन में परोक्ष रूप से योगदान देती थी। आधुनिक जीवन पद्धति में यह व्यवस्था संभव नहीं है। वह उस समय का माँग था।

भारतवर्ष की स्वतंत्रता के साथ इस जनजाति की लोगों में जागरूकता आई और गांव के न्याय व्यवस्था को सुसंगठित करने के लिए गाँव बुढ़ा एवं गाँव बुढ़ी व्यवस्था स्थापित की गई जिसमें गाँव के सभी मामले गाँव बूढ़ा और बूढ़ी की द्वारा ही निपटाया जाता। पहले गांव बुढ़ी की नियुक्ति कम होती थी। लेकिन अब धीरे–धीरे गाँव बूढ़ी की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। इसलिए शोध के दौरान पाया कि गांव बूढ़ी की मांग बढ़ती जा रही है। लगभग सभी मामले ग्रामीण स्तर पर तीन दिन में निर्णय सुनाया जाता है। इस तरह ग्रामीण महिलाएँ प्रत्यक्ष रूप से शासन में भागीदारी करने लगी है। गाँव बूढ़ी बनने के लिए आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। वह अशिक्षित ही सही वह निशी जनजाति की परम्परा–रीति रिवाज़ में पली बढ़ी हो। अपनी जाति की प्राचीन इतिहास को मौखिक याद हो। क्योंकि उन्हीं ऐतिहासिक उदाहरणों उन्हें न्याय करना है। मामला चाहे जितना भी संगीन हो ग्रामीण 'नेल्ली' में ही सुलझा लेनी की व्यवस्था इस समाज की एक अच्छी परम्परा है।

कुछ पारम्परिक रीति–रिवाज़ों के संबंध में गांव बुढ़ी व्यवस्था असक्षम है– जैसे बाल विवाह को रोकना, बेमेल विवाह को रोकना। इसके लिए सीधे सरकारी तंत्र को

हस्तक्षेप करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त महिला से संबंधी सरकारी, गैर–सरकारी संस्थाएँ सक्रिय है। बाल विवाह बेमेल विवाह आदि अब 2 प्रतिशत जैसे ही सुनाई पड़ता है। वह सुदूर इलाका में होता है, जहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुँचा है।

पंचायत चुनाव में आरक्षण के चलते इस जनजाति की महिलाओं को सीधे शासन तंत्र से जुड़ने का अवसर मिल गया। जैसे जिला परिषद मेम्बर सेप्पा में 36 प्रतिशत, यूपिया में 40 प्रतिशत, जीरो में 36 प्रतिशत, कोलोरियांग में 31 प्रतिशत, दापोरिजो में 36 प्रतिशत आदि।

अंचल समिति मेम्बर सेप्पा में 45 प्रतिशत, यूपिया में 40 प्रतिशत, जीरो में 50 प्रतिशत, दांपोरिजो में 45 प्रतिशत आदि। इन आँकड़ो से स्पष्ट है कि महिलाओं की भागीदार सक्रिय है। हालाँकि साठ सीट वाली विधान सभा में निशी जनजाति की एक ही महिला विधायिका है। इस का एक मात्र कारण है ज्ञान/शिक्षा का अभाव ज्ञान का प्रकाश इस प्रदेश बहुत देर पहुँचा। आजादी से पूर्व यहाँ मात्र 12 स्कूल थे। वह भी निशी बहुल प्रदेश में एक भी नहीं था। देर से ही, सही, शिक्षा के 97 प्रतिशत लोग जागरूक हो गए है। शोध के 77 प्रतिशत लोगों ने माना कि बच्चों को शिक्षित करना आवश्यक है। यह भविष्य के लिए शुभ संकेत है। शिक्षा के लिए बालक–बालिका में भेदभाव नहीं करते हैं। बालक के अपेक्षा बालिका शिक्षा को अधिक महत्व देते हैं।

अन्त में मानव अधिकार आयोग से अपील करती हूँ कि इस तरह की कार्यशाला पूर्वोत्तर के जनजाति बहुल प्रदेश में चलाए जिससे इस आयोग की सार्थकता बढ़ जाएगी। जातिविहीन समाज में थोड़ा सा जागरूकता की भी आवश्यकता है।

महिलाएँ अपनी महिलाओं के संदर्भ में शिक्षित जिम्मेदारी को कितना समझ पा रही है? निर्णय लेने में कितनी सक्षम है? चाहे वह शिक्षित है या अशिक्षित।

आज की आधुनिक शिक्षित महिलाएँ अशिक्षित महिलाओं के लिए मार्गदर्शक पथ प्रदर्शक की भूमिका ईमानदारी से निभा पा रही हैं या नहीं? इन सवालों पर विचार करना जरूरी है।

सांस्कृतिक अस्मिता, वैश्वीकरण और सामाजिक सरोकार *

#डॉ0 प्रतिभा

सामान्य अर्थों में यदि वैश्वीकरण का तात्पर्य दुनिया के देशों का स्वयं को खोलना और एक दूसरे से जुड़ने की इच्छा करना है, तो यह कोई नई प्रक्रिया नहीं है। ईसा से कोई हजार–डेढ़ हजार वर्ष पहले जब वैदिक काल के साहसियों ने 100 पतवारों की नाव लेकर खुले समुद्र में छलाँग लगाई होगी, तो वह वैश्वीकरण की एक चाह ही रही होगी। इसी तरह मैगलेन, कोलम्बस और वास्कोडिगामा आदि को खोज–यात्राओं का उद्‌देश्य भी लोकप्रिय वैश्विक संस्कृति का प्रसार ही रहा होगा।

परन्तु वैश्वीकरण का वर्तमान रूप बहुत कुछ अलग है। एक तो इसलिए कि सह सूचना और संचार तकनीकी पर आधारित है, जिससे दुनिया के देशों के बीच की दूरियाँ बेमानी हो गई हैं और वह एक विश्व–ग्राम या 'ग्लोबल–विलेज' में परिवर्तित हो गई है। दूसरे यह सबल संस्कृतियों द्वारा भौतिक दृष्टि से उतनी सबल नहीं रह गयी संस्कृतियों के शोषण का औजार बन गया है।

1980 के पश्चात् साम्यवाद के पतन और अमेरिकी एकाधिकार की पृष्ठभूमि में उदारीकरण तथा मुक्त अर्थव्यवस्था का एक ऐसा वातावरण बन गया कि भारत सहित किसी भी देश के लिए इससे अलग–थलग रह पाना नामुमकिन था, क्योंकि इसका अंग बने बिना आर्थिक मोर्चे के महत्त्वाकांक्षी लक्ष्य प्राप्त नहीं किए जा सकते थे। 1991 के पश्चात् भारत में भी नई आर्थिक तथा औद्योगिक नीतियों का श्रीगणेश हुआ। अनावश्यक बंधन हटाए गए। स्टील, नागरिक उड्डयन आदि के साथ–साथ शिपिंग, पेट्रोलियम, यातायात आदि में निजी सहभागिता का प्रवेश हुआ। परिणामतः नौकरियाँ बढ़ीं, गरीबी घटी, नियति बढ़े तथा अर्थव्यवस्था के सुधार से घरेलू तथा बाहरी मोर्चों पर साख बढ़ी।

वैश्वीकरण की प्रकृति पर विचार करते हुए कहा जाता है कि यह मात्र आर्थिक तत्त्वों को आत्मसात् करती है, उन्हें ही अपनाती है, शेष को निकाल बाहर करती है। यही कारण है कि कुछ समय पूर्व तक वैश्वीकरण के प्रभावों की व्याख्या मात्र आर्थिक और ज्यादा से ज्यादा राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित थी, परन्तु अब इसके सामाजिक, सांस्कृतिक प्रभाव भी मूल्यांकन के दायरे में लाए जा रहे हैं। भारत सहित एशिया–अफ्रीका के विकासशील देशों के प्रसंग में यह आवश्यक भी है, क्योंकि वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप हुए अर्थ और

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (उदयपुर) में पढ़ा गया आलेख।

#सह आचार्य, इतिहास विभाग, मोहन लाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर–313001, राजस्थान।

संस्कृति के टकराव से इन देशों की सामाजिक संरचना में गुणात्मक परिवर्तन परिलक्षित हो रहे हैं।

एक विचित्र सा विरोधाभास है। प्राचीन भारत ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संकल्पना की थी। परन्तु वैश्वीकरण की वर्तमान संकल्पना उस प्राचीन संकल्पना का पोषण नहीं करती, अपितु उस संकल्पना से टकराती है। वर्तमान में विश्व एक 'वैश्विक ग्राम' सेलफोन, इन्टरनेट आदि दृश्य–श्रव्य माध्यमों के फैलाव और सूचना–संजाल से तो है, आर्थिक विकास और सम्पन्नता में भी वह दिखाई देती है, परन्तु जब बात निजता, नैतिकता और सांस्कृतिक अस्मिता की होती है तो आर्थिक विकास की चरम परिणति इन्हें कहीं पीछे छोड़ जाती है।

बहुराष्ट्रीय निगमों की बाढ़ से भारत जैसे देशों में उपभोक्ता संस्कृति का निर्बाध प्रसार हो रहा है। स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो उपभोक्तावाद या कन्ज्यूमरिज्म वैश्वीकरण का सहचर है और उसका मूल उद्देश्य ही है समस्त प्राकृतिक शक्तियों और उपभोग–सम्पदा को मात्र अपने लाभ हेतु अपने उपभोग की वस्तु मानना। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' अर्थात् त्यागपूर्वक उपभोग के सामाजिक सरोकार की भारतीय परम्परा से उसका कोई सरोकार नहीं है। भारतीय परम्परा के अनुसार तो पंचभूत हमारे भीतर भी हैं, इसलिए उनके साथ हमारा संबंध पूर्ण आत्मीयता का है। समस्त प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग से पूर्व उनसे प्रार्थना और अनुमति की भारतीय परम्परा उनके आवश्यक तथा सीमित उपभोग के प्रोत्साहन के लिए भी थी।

परन्तु वैश्वीकरण की उन्मुक्त ब्यार में भावनाएं गौण हो गई हैं और उत्पादनों का विक्रय मुख्य हो गया है। आवभगत की सनातन संस्कृति पर आधारित पर्यटन अब उत्पादन बन गया है और इंसानों के साथ–साथ शहर भी अपनी पहचान खोते जा रहे है। समय के विभिन्न पड़ावों में अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान के लिए जाने जाते शहर दिल्ली, हैदराबाद, लखनऊ, जयपुर और उदयपुर–आज सभी की विशिष्ट पहचानें गुम होकर एक सामान्य पहचान ही रह गई है – सभी जगह वही मॉल, वैश्विक ब्रांडों से भरे बाजार और प्लास्टिक मनी।

इस पृष्ठभूमि में आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि 90 के दशक से भारत में विश्व–सुन्दरियों की अचानक बाढ़ क्यों आ गई। निस्संदेह पश्चिमी बाजार ने भारतीय सौन्दर्य के प्रचार के माध्यम से भारतीय किशोरियों को अपने सौन्दर्य उत्पादों के रूप में सपने बेचने का बाजार पा लिया है। स्त्री–ग्राहकों के बल पर आज सौन्दर्य–प्रसाधन का बाजार भारत में सबसे तेजी से फलता–फूलता बाजार है, लेकिन इस सबके साथ यह तथ्य भी नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता कि इस सबके उपोत्पाद के रूप में 13 वर्ष से कम आयु की वेश्यावृत्ति में आज भारत बांग्लादेश के बाद दूसरे स्थान पर है।

वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप हमारी जीवन–शैली पूरी तरह से बदल रही है। अपने से कहीं अधिक विकसित, ऐश्वर्यशाली और शक्तिशाली देशों की चाकचिक्य से भरी तथा हावी होने वाली आडम्बरपूर्ण जीवनशैली से इसमें वांछित–अवांछित परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे है। पश्चिमी मूल्य, संस्कृति, परम्परा और रीति–रिवाज के अनुकरण की तीव्र ललक भारत के युवा–वर्ग में देखी जा सकती है। चिर–परिचित भारतीय धैर्य जैसे गुम हो गया है और सभी में एक हड़बड़ी है – जल्दी से जल्दी सभी कुछ हासिल कर लेने की, जैसे कल सचमुच नहीं आने वाला हो। आज को भरपूर जी लेने की हड़बड़ी में वे लोग नहीं जान पा रहे हैं कि वे 'आज' के छोटे–छोटे सुखों से महरूम हो रहे हैं। व आत्मीय रिश्तों की मिठास, दुख–दर्द बाँटने के तोष, बच्चों की तोतली जुबान और पंछियों की फुदकन से महरूम हैं। निस्संदेह वैश्विकता की इस आपाधापी में हम अपना अपनापा, अपनी सामाजिक–पारिवारिक परम्पराएं, अपनी संवेदनाएं खो रहे है।

विकासशील देशों की स्थानीय सांस्कृतिक अस्मिताओं की कीमत पर पश्चिम के, या कहा जाए अमेरिका के साम्राज्यवाद की पुष्टि ही हो रही है। आज सामान्य रूप से वैश्वीकरण के विकल्प के रूप में अमेरिकीकरण, हॉलीवुडीकरण और मैकडोनाल्डीकरण जैसे शब्दों के उपयोगों का मान्य हो जाना इसी का प्रतीक है।

सांस्कृतिक वस्तुओं और सेवाओं के वैश्विक बाजार पर अमेरिका तथा उसके मित्र राष्ट्रों का वर्चस्व है और अविकसित तथा विकासशील देशों को उन क्षेत्रों में प्रवेश का भी अधिकार नहीं है। विश्व के आधे से ज्यादा सांस्कृतिक उद्योग अकेले अमेरिका में स्थित हैं। आज दुनिया भर में देखी जाने वाली फिल्मों में से 85 प्रतिशत हॉलीवुड में निर्मित होती है तो अफ्रीका, चिली, कोस्टारिका आदि में देखी जाने वाली 95 प्रतिशत फिल्में अमेरिका की होती हैं।

अमेरिका–यूरोप के इस वर्चस्व को अंग्रेजी भाषा ने और मजबूती दी है, साथ ही उसने स्वयं को भी और समृद्ध किया है। स्वाभाविक रूप से प्रबल और वर्चस्वी संस्कृति की भाषा इन्टरनेट इत्यादि संचार माध्यमों में आसानी से प्रवेश पा जाती है और अभिव्यक्ति के सामान्य माध्यम के रूप में स्वीकृत हो जाती है। उदाहरण के रूप में एस–एम–एस, ई–मेल इत्यादि माध्यमों से अंग्रेजी की शब्दावलियाँ स्थानीय भाषाओं में घुसपैठ कर चुकी हैं। भाषाओं की शुचिता के सवाल को उनकी बढ़ती स्वीकार्यता के बहाने छोड़ भी दे ंतो भाषा–विज्ञानियों के साथ–साथ समाज–विज्ञानी भी इस तथ्य से चिन्तित हैं कि तृतीय विश्व की बहुत सी स्थानीय भाषाएं या तो विलुप्त हो गयी हैं, या विलुप्त होने के कगार पर हैं। अपनी प्रथम भाषा, द्वितीय भाषा अथवा रोजगार की भाषा के रूप में विश्व की करीब एक तिहाई जनसंख्या अंग्रेजी से जुड़ चुकी है।

स्पष्ट रूप से, यदि आज के संचार अवसरों में भी आज 'अपने' लोगों तक अपने लोकगीत और साहित्य नहीं पहुँचा पाते और अपने बचपन की परी–कथाओं, गीतों और

उत्सवों के बदले अगली पीढ़ी को किसी दूसरी संस्कृति और भाषा में बने कार्टून और कम्प्यूटर – गेम्स उपहार में दे रहे हैं तो सांस्कृतिक पहचान का संकट निश्चित रूप से दस्तक दे रहा है। स्वीकार करना होगा कि पश्चिमी देशों के बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक और वैचारिक वशीकरण मंत्र रूपी वैश्वीकरण ने भारत सहित एशिया–अफ्रीका के अन्य विकासशील देशों को अपनी चपेट में ले लिया है। हमें स्मरण रखना होगा कि विगत में आक्रान्ताओं, घुसपैठियों और व्यापरियों ने मौका मिलने पर अपनी शक्ति का इस्तेमाल हमारी चेतना को भोथरा करने में किया है।

यद्यपि वैश्वीकरण से पीछे हटना हमारे लिए संभव नहीं है और चाहे–अनचाहे एक आवश्यक बुराई के रूप में ही सही, हमें इसे स्वीकार करना है, परन्तु यह हमारा उत्तरदायित्व है कि हम अपनी निजता, स्थानीयता और सांस्कृतिक अस्मिता की यथासंभव रक्षा करें और वैश्विक प्रभावों को वहीं तक ग्रहण करें, जहाँ तक यह हमारी भिन्नरूपा और सामाजिक संस्कृति को समृद्ध कर सके।

परिधि के सरोकार तथा हाशिये पर जिंदगी : एक यात्रा*

#डॉ0 विभा कुमारी

भारतीय जीवन पर जब भी चर्चा होती है तो केंद्र और परिधि या मुख्यधारा और हाशिया का सवाल उठता है। भारतीय संदर्भ में मुख्यधारा का सीधा संबंध राष्ट्रीय जीवन की उस धारा से है जो देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया से निर्धारित और संचालित होता है। इसमें आर्थिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया से निर्धारित और संचालित होता है। इसमें आर्थिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि यही दो ऐसे महत्त्वपूर्ण कारक हैं, जो व्यक्ति, समाज, समुदाय अथवा समूह का 'हाशियापन' निर्धारित करते हैं। हाशिया का सीधा संबंध विकास की प्रक्रिया के साथ सार्थक ढंग से न जुड़ पाने की विवशता से है। विकास की यह प्रक्रिया मुख्यतः आर्थिक है तथा कहीं–कहीं सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक भी।

मुख्यधारा के भीतर के हाशिये पर वैसे समूह, समुदाय अथवा व्यक्ति आते हैं जो मुख्यधारा के अंदर रहते हुए भी विकास की प्रक्रिया से जुड़ नहीं पाते हैं। आर्थिक कारणों से ऐसा अधिक होता है तथा कभी–कभी यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक भी होता है क्योंकि आर्थिक विषमता के कारण ही व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय स्थान परिवर्तन करते हैं तथा अपने घर की संस्कृति को छोड़कर नई जगह व्यवस्थित होने का प्रयास करते हैं। इस हालात में वे एक लंबे समय तक नये परिवेश तथा व्यवस्था में अपने आपको सार्थक ढंग से शामिल नहीं कर पाते हैं। इस अवधि में वे संकट का अनुभव करते हैं तथा अलगाव की भावना भी उन्हें परिवार, समूह अथवा समाज से कटने में मदद करती है। घरेलू नौकर, खेतिहर और बंधुआ मजदूर, स्त्री समुदाय इन्हीं कारणों से समाज की मुख्यधारा के अंदर हाशिये पर जाने के लिए विवश हो जाते है।

मुख्यधारा के बाहर हाशिये पर वे लोग आते हैं जो लोग अपनी प्रजातीय विशेषताओं के कारण राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा से नहीं जुड़ पाते हैं तथा विकास की प्रक्रिया से दूर होने के कारण धीरे–धीरे हाशिये पर चले जाते हैं। इस दृष्टि से भारतीय समाज में आदिवासी समाज है, जो भारतीय समाज की संरचना में अपने प्रजातीय गुणों के कारण सार्थक ढंग से नहीं पाये। इसका सबसे बड़ा कारण राष्ट्र के सामाजिक और

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (मिजोरम) में पढ़ा गया आलेख।
#सहायक आचार्य, कोलकाता।

आर्थिक विकास के प्रति इनका अपना संकुचित दृष्टिकोण रहा है, जिसने इन्हें हमेशा राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा से अलग रखा। एक तो अपनी प्रजातीय विशेषताओं को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने शेष समाज से अपने को दूर रखा, दूसरा देश के आर्थिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रियाओं में इतनी असमानता और अव्यवस्था रही कि वे उसके शिकार होते चले गये। इसमें हम एंग्लो–इण्डियन समुदाय को भी शामिल कर सकते हैं। एंग्लो–इण्डियन समुदाय 'वर्ण–संकर' होने के कारण सांस्कृतिक स्तर पर हाशिये पर हैं। इस प्रकार बहुत सारे लोग, समुदाय एवं समूह आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों से उपेक्षित, प्रताड़ित एवं अजनबीपन का जीवन जीने के लिए विवश हो जाते हैं एवं असंगठित होने के कारण अपने शोषण, दमन और उपेक्षा के खिलाफ आवाज भी नहीं उठा पाते। दलित समाज, आदिवासी समाज, स्त्री समाज, निम्नवर्गीय समाज आदि आज जीवन की मुख्यधारा के अंदर और बाहर हाशिये की जिंदगी जीने के लिए विवश हैं।

हाशिये का रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। मुख्यधारा के इतिहास में उनके लिए ऐसा कुछ भी नहीं है, जिस पर वे गर्व करें। हाशिये का साहित्य ऐसे ही लोगों का संस्कृति विमर्श और सामाजिक–ऐतिहासिक पड़ताल है। इसलिए इनकी सामाजिकता और सामाजिक प्रतिबद्धता पारंपरिक साहित्य से बिल्कुल अलग दिखाई पड़ती है। इरअसल मुख्यधारा का साहित्य ऐसा है ही नहीं कि वह दलित, आदिवासी, नारी के मानस में सदियों से पल रहे आक्रोश या पीड़ा को वाणी दे सकें। उसकी बंधी–बंधाई शैली में इतना व्यापक सत्य, इतना बड़ा यथार्थ और समाज को बदलने का इतना तीव्र और दृढ़ संकल्प समा ही नहीं सकता। मुख्यधारा के विपरीत हाशिये के साहित्य में वस्तु प्रधान होता है, जो अनुभवजन्य होता है। अनुभव का सबसे प्रामाणिक और विश्वसनीय आधार स्वयं उसका अपना जीवन होता है। ऊपर से देखने पर इनका सरोकार केवल अपने समाज तक ही दिखाई पड़ता है, किन्तु इसकी गहराई में मानव–मुक्ति का संग्राम छिपा हुआ है। इसलिए इसका सरोकार अखिल मानवता से है। उनकी रचनाओं के केन्द्र में केवल और केवल मनुष्य और मनुष्यता है।

दलित साहित्य में जो रचनात्मक ऊर्जा है, चिंता और चिंतन का जो समाजशास्त्रीय सरोकार है, वे महत्वपूर्ण हैं। इसने समाज के सबसे बड़े मुद्‌दे जातिप्रथा और वर्णभेद को उठाया है। 'अलगाव की चोट' शीर्षक कविता में पुरुषोत्त सत्यप्रेमी पंडित कमलकांत पंडया को संबोधित करे हुए कहते हैं – ''ओ हिंदू धर्म और जाति शुचिता के ठेकेदार/पंडित कमलकांत पंडया/सदियों से तुम्हारी संपत्ति–सम्मान का/धर्म ही रहा है स्त्रोत/तुम्हारी इसी सत्ता व्यवस्था ने/वर्जनाओं–प्रतिबंधों की काल–कोठरी में/कैद किया और अस्पृष्य बना दिया मुझे/इसलिए तो/तुम्हारा अलगाव चोट करता रहता है/मेरे शिक्षित, संगठित और संघर्ष करते वजूद पर।''[1] वर्णाश्रम धर्म ने जातिप्रथा को

जन्म दिया और उसका पोषण किया। इसी वर्णाश्रम धर्म ने जानबूझकर ऐसे नियम बनाये जिससे दलित आजीवन उसके जाल में उलझकर शोषण का शिकार होता रहा। जयप्रकाश लीलवान ने इस वर्णाश्रम धर्म को डायन की संज्ञा दी है – हमारे देश की जातिप्रथा।''[2]

जाति और वर्ण–व्यवस्था के नाम पर समाज के एक तबके से प्रायः सभी मानवाधिकार छीनकर उन्हें गर्हित और दीनहीन बना दिया गया। उनके साथ पशुवत व्यवहार किया गया, उन्हें अछूत बनाकर उनके साथ अमानवीय शोषण और अत्याचार किया गया। वर्ण–व्यवस्था सामाजिक विषमता को वैधता प्रदान करती है। शोषकों के लूट और शोषण को उचित ठहराती है। छुआछूत को बनाये रखने के लिए धर्म एवं शास्त्रों का सहारा लेती है। धर्म ने हमेशा उच्च वर्ग के हितों की रक्षा की है और निम्न वर्ग के शोषण को उचित ठहराया है। चमार, महार, भंगी, मुसहर, डोम, दुसाध, हलालखोर, मातंग, पासी, जाटव, धांगी आदि सैकड़ों जातियाँ हैं, जिन्हें जाति के नाम पर समाज की मुख्यधारा से बाहर कर हाशिये पर डाल दिया गया है।

जाति एक सच्चाई है – और सिर्फ उसका जिक्र न करने से वह खत्म नहीं हो जाती। जाति का जहर हमारे खून में विशाणुओं की तरह फैला हुआ है। 'तब तक' कविता में दामोदर मोरे लिखते हैं– "मैंने अंधेरे से पूछा/'पीड़ितों की बस्ती में/तू रहेगा कब तक"? काली बिल्ली की निगाहों–सा फैलाकर आँखें/वह बोला–/'सवर्णों के दिल और दिमाग पर/मनु का राज है/तब तक।" [3]

यह व्यवस्था व्यक्ति से शिक्षा का अधिकार छीन लेती है। उसे डर है कि शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति जागरूक हो अपने अधिकारों की मांग करने लगेगा। आर्थिक–सामाजिक समानता की बात करेगा। इसलिए दलितों को शिक्षा से वंचित रखा गया। बाबा अम्बेडकर ने शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देते हुए अंग्रेजी शिक्षा को शेरनी का दूध कहा था। महात्मा ज्योतिबा फुले ने शिक्षा को सर्वोपरि माना क्योंकि यह सभी तरह के विकास की कुंजी है– ''विद्या बिना मति गई/मति गई तो नीति गई/ नीति गई तब गति न रही/गति न रही तो वित्त गया/ वित्त बिना शूद्र–धँस–धँसाये/इतने अनर्थ अकेली अविद्या ने ढाये।"[4] इसीलिए इन कवियों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से शिक्षा की आवश्यकता और अनिवार्यता पर बल दिया। शिक्षा व्यक्ति में आत्म–स्वाभिमान और आत्मचेतना का भाव भरती है। पूनम तुशामड की तमन्ना है– ''झाडू, तसली और/कूड़े की विरासत/माँ मुझे मत दो/मुझको पढ़ना, आगे बढ़ना/खुद को नये साँचे में गढ़ना/और सबको है जगाना/मांग कर खाने की आदत/और नसीहत/माँ मुझे मत दो''[5]

सदियों से वंचित–पीड़ित दलित वर्ग के जीवन स्तर को बेहतर बनाने के लिए सरकारी नौकरियों एवं सत्ता में भागीदारी के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई, जिसके

सकारात्मक परिणाम भी निकले, लेकिन इससे सामाजिक अन्याय एवं उत्पीड़न समाप्त नहीं हुआ, बल्कि वर्चस्ववादी वर्गों के कुछ हिस्सों में इसकी नकारात्मक प्रतिक्रियायें भी हुईं। इन वर्चस्ववादी वर्गों को सम्बोधित करते हुए कवि कालीचरण स्नेही अपनी कविता 'आरक्षण अपना–अपना' में लिखते हैं–

''आरक्षण आपस में बदल लीजिए/बालकों की तरह न खीजिए/आप मैला ढोइए, कपड़े धोइए, गंदगी में खोइए/फुटपाथ पर सोइए/जूठन खाइए, झाड़ू लगाइए, बाल बनाइए/पालिश कीजिए, दान में अंगूठा दीजिए, खेतों में सोइए/अपमान के घूँट पीजिए/हमें अपने तिलक–तराजू, तलवार और ताज दे दीजिए/आप अपना आरक्षण आज ही वापस ले लीजिए।''[6] डॉ0 अम्बेडकर ने दलित–आदिवासियों के लिए भारतीय संविधान में आरक्षण का प्रावधान कर सामाजिक स्तर पर पिछड़े और उत्पीड़ित समाज को विशेष अवसर देकर समान स्तर पर लाने की एक ठोस सकारात्मक पहल की थी। यह पहली बार था कि वंचित लोगों के लिए आरक्षण के सिद्धांत को किसी संविधान ने स्वीकृति दी थी।

दलित कविता सामाजिक बदलाव का आह्वान करती है। इन कविताओं में आक्रोश है, गुस्सा है तो साथ–साथ संवेदना, मानवीयता और सब्र भी है। न्याय की उत्कट लालसा है, समानता की तीव्र ललक है। ये कवि अस्मिता की तलाश और व्यापक स्तर पर अपने अधिकारों के प्रति सजग हैं– ''स्वयं को पहचानो/चक्की में पिसते अन्न की तरह नहीं/उगते अंकुर की तरह जीओ/धरती और आकाश सबका है/हवा, प्रकाश किसके वष का है/फिर इन सब पर भी/क्यों नहीं हक जताओ/अपना ही हक/नई पहचान बनाओ/धरती पर पग रखने से पहले/अपनी धरती बनाओ।''[7]

आदिवासी, समाज और सभ्यता से बहिष्कृत हो हाशिये पर पड़ा अभिशप्त जीवन जीने के लिए विवश हैं। आदिवासी समुदाय आदिम और मूलवासी समाज का वह हिस्सा है जो अब भी मुख्य समाज से अलग–थलग प्रमुख रूप से प्रकृति पर आधारित जीवन जीता आ रहा है और प्राचीनता एवं नैसर्गिकता के संदर्भ में आदिम सरोकारों का कमोबेश संरक्षण किये हुए हैं। उनकी सामाजिक संरचना और जीवनयापन के साधन जल, जंगल, जमीन से जुड़ा है। उसका उद्‌गम उसकी पहचान को पुष्ट करता है तो उसकी विरासत, भाषा, शिक्षा, संस्कृति और जीवन–शैली पहचान को जिंदा रखती है। इसकी रक्षा किये बिना उसकी अस्मिता की रक्षा नहीं हो सकती।

दलित और आदिवासियों की स्थिति में एक बड़ा अंतर यह है कि दलितों को गांव के बाहर भारतीय संस्कृति से बहिष्कृत करने के बाद भी उसके अधीन रहकर उसे मानने पर मजबूर किया गया और जीने के मानवीय शर्तों से वंचित रखा गया। उससे आत्मसम्मान छीन लिया गया। इसके विपरीत आदिवासियों को सभ्यता से ही बहिष्कृत

कर जंगलों में ठेल दिया गया। उसके पास जंगल और जमीन दोनों थे। उसने अपनी संस्कृति की विरासत हमेशा कायम रखी और वह आत्मसम्मान के साथ जीता रहा लेकिन अब उसकी सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना तथा स्वायत्तता पर खतरा पैदा हो गया है। उसका स्वावलंबी स्वभाव और आत्मसम्मान डगमगाने लगा है और वह भी हीनता बोध का शिकार हो गया है। विकास के नाम पर आज भारत सरकार ने भारी संख्या में उनकी जमीन अधिग्रहित की है और उन्हें विस्थापित बना दिया है। फलतः वे या तो रोजगार की खोज में पलायन कर दूसरे प्रदेशों में जाने लगे हैं, जहाँ उनकी भाषा और संस्कृति दोनों खत्म हो जाती है अथवा वे अपने ही घर में विस्थापित होकर किसान से खेतिहर मजदूर या बंधुआ मजदूर बना जाने पर विवश हो गये हैं।

आदिवासी समाज में आ रहे इन बदलावों का चित्रण कवि सूक्ष्म एवं यथार्थ धरातल पर करता है। आजादी के बाद हमने पश्चिमी सभ्यता के तर्ज पर विकास का केन्द्रीकृत नेहरूवादी मॉडल अपनाया, जिसमें कुछ खास जगहों को महत्व देकर बाकी अधिकांश जगहों के प्रति उपेक्षापूर्ण रवैया अपनाया। आदिवासियों की सुदूर और दुर्गम बस्तियों की ओर तो आज भी आधुनिकता का प्रकाश नहीं पहुँच पा रहा है। यदि पहुँच भी गया तो महज प्रचुर खनिज–संसाधनों के लोभ में उनके अस्तित्व को रौंदने एवं कुचलने के लिए। यह सारा कुचक्र वर्षों से उन्हें सभ्य और मुख्यधारा में शामिल करने के नाम पर हो रहा है। आदिवासियों के खिलाफ हो रहे इस सारे षड्यंत्र को कवि अपना विषय ही नहीं बनाता, बल्कि उनके खिलाफ प्रतिपक्ष की सुदृढ़ जमीन भी तैयार करता है– ''ओ रे/मानवता के आदि नुमाइंदों/तुम जंगली, ढ़ोर, गंवार हो/एक सलाह है तुम्हें सभ्य बनाने की/'पुश्तैनी ऊबड़–खाबड़ धरा से हटाकर/रोपना होगा/मुख्यधारा की उर्वरा भूमि पर'/इस सलाह का मतलब क्या हैं/तुम अभी नहीं जानते/मैं सिर्फ इतना जानता हूँ कि/खुशहाली के फूलों की जगह/मुझे नजर आते हैं–/फुटपाथी डेरे, झोपड़ पट्टी/कचरे के ढेर पर आँखें गड़ाये मासूम बच्चे/प्रौढ़ होता यौवन/बूढ़ा होता प्रौढ़पन/ भूख की बीमारी से खोखला/वक्त से पहले चुपचाप खत्म होता जीवन/और वहाँ/तुमसे छुटी पुश्तैनी भूमि पर कँटीले तारों की पहरेदारी में नारियल के बागान/लहलहाते चावल के खेत/इमारती लकड़ी की मंडियाँ, कागज़ की मिलें/और आलीशान कोठियाँ/कोठियों में बहुत कुछ.... जिसे तुम नहीं जान सकते/तय तुम्हें करना है–/वहीं अड़े रहोगे या सभ्य बनोगे?[8]

ठेकेदार, सत्ता एवं औद्योगिक तंत्र का मजबूत गठजोड़ आदिवासी को अपनी ही जड़ों से बेदखल कर उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर करता है। आजाद भारत में आदिवासियों की जमात लगातार अपनी ही जमीन से विस्थापन होकर शहरी मजदूर बनने की अभिशप्त नियति से जुड़ने को मजबूर है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य ने विकास के जो मानक बनाये हैं, वह आदिवासियों के

हितों के अनुकूल नहीं है। एक ओर राज्य अपनी जिम्मेदारी आदिम जाति के प्रति लेने से कतरा रहा है, वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनां पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रति राष्ट्र औरा राज्य की सरकार सहयोगपूर्ण रवैया अपना रही है। पुनर्वास के नाम पर विस्थापित आदिवासी वर्तमान में 'स्लम' में नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो रहे हैं। सुरेंद्रकुमार नायक अपनी कविता 'उलीहातू' में लिखते हैं– ''अपने ही बीच/कुकुरमुत्ते से उग आये/दलालों के दमन चक्र/विकास का बहाना/हीराकुंड से लेकर/सिंगुर, नंदीग्राम, भिलाई तक/हमारा जीवन, हमारे जंगल/हड़पते/हमारे, तथाकथित रक्षक।''[9]

आदिवासियों को अपना अस्तित्व और पहचान कायम रखने हेतु मजबूरन सत्ता एवं औद्योगिक प्रतिष्ठानों के खिलाफ विरोध दर्ज करना पड़ता है। जब वे अपने हक की लड़ाई के लिए हिंसक कदम उठाते हैं, तो उन्हें 'नक्सलवादी' या 'अलगाववादी' कहकर मौत के घाट उतार दिया जाता है। दांतेवाड़ा, लालगढ़, गुवाहाटी, उड़ीसा आदि जगहों में घटी हिंसक घटनाएँ इसी मनोवृत्ति का परिचायक है। अरूंधती राय 'आउटलुक' के पहने बेहद चर्चित लेख में सरकार द्वारा प्रायोजित 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' के सत्य को तल्ख़ रूप में उजागर करते हुए लिखती हैं–"आज एक बार फिर छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के खनिज सम्पन्न जंगलों में बगावत फैल गई है, जो हिंदुस्तान के लाखों आदिवासी और जन–जातीय लोगों का बसेरा है और कॉरपोरेट जगत का स्वप्न लोक।''[10] महादेव टोप्पो की कविता 'त्रासदी' इस सवाल को जीवंत ढंग से उठाती है– ''इस देश में पैदा होने का/मतलब है–/आदमी का जातियों में बँट जाना/और गलती से तुम अगर हो गये पैदा/जंगल में/ तो तुम कहलाओगे/आदिवासी–वनवासी–गिरिजन/ वगैरह–वगैरह/मगर वे मनुष्य नहीं कहेंगे/ सबसे बड़ी त्रासदी तो यह कि/तुम्हें आदिवासी वनवासी गिरिजन/सब कुछ कह लेंगे/लेकिन कहेंगे नहीं/कभी तुम्हें इस देश का वासी/वैसे कहने को तो वे/तुम्हें इस देश का/आरक्षित नागरिक भी कह लेंगे/लेकिन यह कितनी बड़ी/विडंबना है/ कितना बड़ा विरोधाभास/कि जब तुम इस देश के/नागरिक होने के नाते/मांगोगे अपना हक/कहलाओगे फिर तुम ही/अलगाववादी।''[11]

किसी भी राष्ट्र–समाज का तो तबका सभ्यता या कहें, विकास की दौड़ में पीछे रह गया है, कौन नहीं चाहेगा कि उसे आगे बढ़ाया जाये। लेकिन जब यह प्रयत्न और प्रक्रिया के केन्द्र में किसी विकसित और चालाक वर्ग को लाभ पहुँचाने की साजिश से की जाती है और पिछड़े तबके के विकास का ढ़ोल पीटा जाता है, तो इसका पुरजोर विरोध जागरूक लोगों को करना चाहिए। ऐसी स्थिति विकास के नाम पर विस्थापन की वजह से पैदा होती है, न कि सही अर्थों में विकास के कारण। लेकिन जब सचमुच विकास के लिए विस्थापन अनिवार्य हो, तो पुनर्वास केन्द्रीय लक्ष्य बन जाता है जिसे पुनर्वास नीति के

प्रावधानों के तहत पूरा किया जाना चाहिए।

स्त्री समाज हमारी एक महत्वपूर्ण इकाई है, इसे आधी दुनिया भी कहा जाता है, पर मुख्यधारा में रहते हुए भी स्त्रियों को केन्द्रीय व्यवस्था में कभी ठीक से निर्णायक स्थिति में शामिल नहीं किया गया। स्त्री समाज का सीधा संबंध उन महिलाओं से है, जो सामंती समाज और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में केवल 'स्त्री' होने के नाम पर शोषित और उपेक्षित हैं चाहे वे परिवार में रहने वाली स्त्रियाँ हों या नगरों और महानगरों में शरीर बेचकर गुजारा करने वाली वेश्याएँ, इन स्त्रियों के साथ पुरूष समाज प्रारंभ से ही एक 'पदार्थ' की तरह व्यवहार करता रहा है तथा उससे उसका संबंध मात्र 'उपभोक्ता और उपयोगिता' का रहा है। दलित स्त्रियों की स्थिति तो और भी दयनीय है। दलित होने के नाम पर तो उसका शोषण होता ही है, स्त्री होने के नाम पर सामंती समाज उसका हर तरह से शोषण करता है। यहाँ तक कि उसके शरीर और श्रम का भी।

पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में घर का मुखिया कोई–न–कोई पुरुष ही होता है। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस घर के लिए वह अपना सारा सुख और स्वप्न न्योछावर कर देती है, उस घर पर उसका कोई अधिकार ही नहीं है। 'अपने घर की तलाश' शीर्षक कविता में निर्मला पुतुल लिखती हैं–''अंदर समेटे पूरा का पूरा घर/मैं बिखरी हूँ पूरे घर में/पर यह घर मेरा नहीं है/धरती के इस छोर से उस छोर तक/मुट्ठी भर सवाल लिये मैं/दौड़ती, हाँफती, भागती/तलाश्झ रही हूँ सदियों से निरंतर/अपनी जमीन, अपना घर/अपने होने का अर्थ!''[12] उसकी सारी प्रतिभा, सारी सृजनात्मकता इसी घर, परिवार और बच्चों को संभालने एवं रसोई बनाने में होम हो जाती है। सोमा बंद्योपाध्याय अपनी कविता 'अधूरी कविता' में लिखती हैं–''कविता में मन/मन में कविता/फिर भी फ्रीज खोल टमाटर निकालते–निकालते/अचानक टटोलकर देखती है–/जाः ! न जाने कब/कविता के लिए चुने गये एक–से–एक/बेशकीमती शब्द/मन से फिसलकर/फ्रीज में रखे दही के बर्तन में जम चुके थे।"[13]

स्त्री लेखन समाज की कड़वी सच्चाइयों और विसंगतियों को रौंदकर आगे आ रहा है। स्त्री रचनाकार सामाजिक समस्याओं के विरुद्ध लड़ने के पक्ष में उतनी ही प्रतिबद्ध और सजग हैं जितनी अपने सृजनात्मक लेखन के पक्ष पर गंभीर हैं। विरोध–प्रतिरोध से स्त्री अपनी स्पष्ट दिशा अख्तियार कर रही हैं। स्त्रियाँ पुरुषों के बोध को चैलेंज कर रही है। निर्मला पुतुल अपनी कविता 'क्या तुम जानते हो' में लिखती है– ''क्या तुम जानते हो/पुरूष से भिन्न/एक स्त्री का एकांत/घर, प्रेम और जाति से अलग/एक स्त्री को उसकी अपनी जमीन/के बारे में बता सकते हो तुम...?/पढ़ा है कभी/उसकी चुप्पी की दहलीज पर बैठ/शब्दों की प्रतीक्षा में उसके चेहरे को!/अगर नहीं!/तो फिर क्या जानते हो तुम/रसोई और बिस्तर के गणित से परे/एक स्त्री के बारे में/''[14]

रजनी तिलक अपनी कविता में एक ओर पितृसत्ता को चुनौती देती है दूसरी ओर नई दुनिया का स्वप्न देखती है, जहाँ समानता होगी और स्त्री होने के कारण प्रताड़ना नहीं झेलनी पड़ेगी। वे लिखती हैं–''मैं/दलित अबला नहीं/नये युग की सूत्रपात हूँ/सृष्टि की जननी/नये युग की आवाज हूँ/इकाई नहीं/करोड़ों की पदचाप हूँ,/मूक नहीं मैं/आधी दुनिया की आवाज हूँ/नये युग की सूत्रधार हूँ।''[15]

ग्रामीण जीवन की संरचना में खेतिहर तथा बंधुआ मजदूरों की जिंदगी किसी 'दास' से कम नहीं है। फैक्ट्री के मजदूर तो एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए स्वतंत्र हैं, पर ये गुलामों की तरह जीने के लिए अभिशप्त। सूदखोरों, महाजनों और जमींदारों के जाल में फंसी इनकी जिंदगी छटपटाकर दम तोड़ने के लिए विवश हो जाती है। यदि हम इनकी दयनीय और त्रासदपूर्ण स्थिति पर गौर करें, तो स्पष्ट पता चलता है कि हिन्दी समाज की जाति और वर्ण–व्यवस्था इस स्थिति के लिए सर्वाधिक जिम्मेदार हैं क्योंकि खेतिहर और बंधुआ मजदूरों में सबसे ज्यादा संख्या नीची जाति के लोगों की ही है। उनमें भी हरिजन और आदिवासियों की संख्या सबसे अधिक है। आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण एक ओर तो उनके पास खेती वाली उपजाऊ जमीन होती ही नहीं और यदि होती भी है तो सामंत, जोतदार या धनी किसान कोई न कोई तिकड़म करके उसे हड़प लेते हैं। यहाँ तक कि इसके लिए इनके घरों को जला डालते हैं। परिणाम यह होता है कि इन्हें फिर अपना घर बनवाने या परिवार का खर्च चलाने के लिए कर्ज लेना पड़ता है। अशिक्षित होने के कारण सूदखोर या महाजन इनसे जिस राशि पर अंगूठे का निशान लगवाते हैं और जो राशि वे पाते हैं, उनमें काफी अंतर होता है। इस राशि को वे आजीवन चुका नहीं पाते हैं। ये बंधुआ मजदूर खेतों, ईट–भट्टों और मालिक के घरों में काम करते हैं तथा उनकी इच्छा के बगैर सरहद से बाहर जाने की इन्हें अनुमति नहीं होती। हिन्दू समाज की इसी जाति और वर्णभेद के मजबूत दीवार के सहारे इनके मालिक इन्हें सताते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि उनका जन्म इन्हीं ऊँच जातियों की सेवा के लिए हुआ है। दरअसल यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसका जन्म ही शोषण, दमन और उत्पीड़न के लिए हुआ है।

देश की आजादी के बाद ग्रामीण जीवन की संरचना में बदलाव आया तथा हरिजन एवं दलितों के अंदर भी अस्तित्व चेतना का विकास हुआ। इसमें 1967 में नक्सलबाड़ी एवं उसके बाद हुए आंदोलनों की भी बड़ी भूमिका है। ऐसा नहीं था कि आजादी के पूर्व इनमें अपने अस्तित्व को लेकर चेतना नहीं थी, लेकिन शिक्षा, आर्थिक विवशता, जागरूकता एवं एकता के अभाव में वे बड़ी जातियों, खासकर जमींदारों और महाजनों द्वारा शोषित होने के लिए विवश थे। लेकिन जैसे–जैसे शिक्षा के कारण ज्ञान और आत्मसम्मान का विकास हुआ तथा उनकी आर्थिक स्थिति थोड़ी मजबूत हुई, वे अपनी अस्मिता के प्रति और अधिक सचेत हुए तथा सामूहिक रूप से सामंतों और

महाजनों के शोषण एवं दमनपूर्ण रवैये के खिलाफ लड़ने के लिए मैदान में उतर आये।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि हाशिये का साहित्य सामाजिक संरचना की तह में जाकर पूरे समाज की न केवल पड़ताल करता है। बल्कि उसमें छुपी हुई विसंगतियों को उजागर कर उसका प्रतिकार और परिष्कार का प्रयत्न भी करता है। भारतीय संदर्भ में यह हर तरह के शोषण व्यवस्था का विरोध करके समरस की स्थापना के साथ–साथ मानव–मात्र की गरिमा को स्थापित करना चाहता है। आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक शोषण, संकीर्णता और विसंगतियों से मानव मात्र को समानता एवं सम्मान दिलाना ही इस साहित्य का उद्देश्य है। अंत में ओमप्रकाश बाल्मीकि के शब्दों में कहना चाहूँगी– ''फटे पांव / खुरदरे हाथ / सख्त चेहरे / नहीं जान पाये / बदलते मौसम का मिज़ाज / अंधेरे के समंदर से / बाहर आकर / देखना है डरे सहमे / चेहरों पर उम्मीदों की किरण / जो अभी बाकी है / राख में छिपी अदृष्य चिंगारी की तरह।'' [16]

संदर्भ–सूची

1. सत्यप्रेमी डॉ0 पुरूषोत्तम, 'मूक माटी की मुखरता' (काव्य–संग्रह), प्रथम संस्करण–1997, अतिश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ–12
2. लीलवान जयप्रकाश, 'अब हमें ही चलना है' (काव्य–संग्रह), दलित साहित्य, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ–55
3. मेरे दामोदर, 'सदियों के बहते जख्म' (काव्य–संग्रह), प्रथम संस्करण–2001, अखिल भारतीय साहित्य परिषद, मुम्बई, पृष्ठ–133
4. भंडारे डॉ0 मनोहर, दलित साहित्य समग्र परिदृश्य, प्रथम संस्करण–2013, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 308
5. तुशामड पूनम, 'माँ मुझे मत दो' (काव्य–संग्रह), प्रथम संस्करण–2010, सफाई कर्मचारी आंदोलन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ–17
6. भंडारे डॉ0 मनोहर, दलित साहित्य समग्र परिदृश्य, प्रथम संस्करण–2013, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली पृ0 358
7. टाकभौरे सुशीला, 'तुमने उसे कब पहचाना', प्रथम संस्करण–1997, शारद प्रकाशन, नागपुर, पृष्ठ–56
8. मीणा हीराराम, 'अंडमानी आदिवासियों को सभ्य बनाने की सलाह' (कविता), सुबह के इंतजार में (काव्य–संग्रह), पृष्ठ–41–42
9. नायक डॉ0 सुरेंद्र, 'उलीहातू', आदिवासी कविता अंक, अरावती उद्घोष पत्रिका, पृष्ठ–9
10. मेहता विनोद, (प्रधान संपादक), आउटलुक, अप्रैल–2010, पृष्ठ–14

11 कालजयी किशन (सं), संवेद (पत्रिका), जनवरी–2012, पृ0 31

12. पुतुल निर्मला, 'नगाड़े की तरह बजते भाब्द' (काव्य–संग्रह), प्रथम संस्करण–2005, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ–30

13. बंद्योपाध्याय सोमा, 'अधूरी कविता' (कविता), रमणिका गुप्ता (संपादक), युद्धरत आम आदमी (पत्रिका), पूर्णांक–1008, 2011, दिल्ली, पृष्ठ–365

14. पुतुल निर्मला, 'क्या तुम जानते हो', समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन, प्रथम–संस्करण–2011, दिल्ली, पृ0 19

15. तिलक रजनी, 'करोड़ों पदचाप हूँ! प्दचाप,' कदम (पत्रिका), फरवरी–2000, दिल्ली, पृष्ठ–30–31

16. ओमप्रकाश बाल्मीकि, 'शब्द झूठ नहीं बोलते' (काव्य–संग्रह), प्रथम संस्करण–2012, अनामिका प्रकाशन, पृ0–49

वैश्वीकरण एवं मानवाधिकार : सहयात्रा के जरूरी उपक्रम*

#डॉ० सरोज कुमार वर्मा'

''बहुप्रचारित वैश्वीकरण किसी भी अर्थ में वैचारिक स्वतंत्रता, सृजनात्मकता तथा व्यापक जनभागीदारी पर आधारित लोक–पोषक व्यवस्था नहीं है। वस्तुतः यह तो स्वयं एक खास किस्म की कूपमंडूकता, हठधर्मिता और वैचारिक दासता पर आधारित है जो शोषण–दोहन के अधिकार, को महिमामंडित तथा शाश्वत करने के मुहिम का हिस्सा है।''

–प्रो. कमल नयन काबरा

''मानव परिवार के सभी सदस्यों की अंतर्निहित गरिमा और सम्मान तथा अखिल विश्व में स्वतंत्रता, न्याय और शांति मानवाधिकारों के आधार हैं।............यदि मनुष्य को अत्याचार और उत्पीड़न के विरूद्ध अंतिम अस्त्र के रूप में विद्रोह का अवलंब लेने के लिए विवश नहीं किया जाना है तो मानव अधिकारों का संरक्षण विधिसम्मत शासन द्वारा किया जाना चाहिए।''

–मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा की उद्देशिका से

मनुष्य के प्रकृति के अन्य प्राणियों से इतर होने के जितने आयाम हैं, उनमें एक आयाम भाषा का भी है; क्योंकि भाषा मनुष्य के अलावा और किसी के पास नहीं होती । लेकिन इस भाषा की प्रकृति बड़ी दोहरी होती है। इसलिये यदि इस भाषा के द्वारा मनुष्य अपने को प्रकट करता है तो इसी भाषा के द्वारा अपने को छुपा भी सकता है और किसी भिन्न या बिल्कुल विपरीत रूपों में भी प्रकट कर सकता है। मनुष्य ऐसा करता भी है और केवल दैनिक जीवन के छोटे–मोटे व्यवहारों में ही नहीं करता, बल्कि मानवता का उत्थान, जगत् का कल्याण, प्राणी–मात्र से प्रेम जैसे व्यापक और जरूरी अवगाहनों में भी करता है। इसलिये जुमले तो वह सर्वहितकामी उछालता है, परन्तु अमल स्वहितकामी योजनाओं पर ही करता है। वैश्वीकरण और मानवाधिकार जैसी अवधारणाओं के गढ़ने और उनके आपसी रिश्ते को परिभाषित–व्याख्यायित करने के पीछे की आधारभूमि भी

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (उदयपुर) में पढ़ा गया आलेखे

#उपाचार्य, दर्शन विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर–842001 (बिहार)

यही है। ये दोनों परस्पर विरोधी अवधारणायें हैं, क्योंकि इनमें पहली सभी दिशाओं से जिन्दगी को बांधने का यत्न करती है, तो दूसरी सभी दिशाओं में जीवन को मुक्त करने का आग्रह करती है। इन दोनों की इस व्याघातक प्रकृति के कारण इन दोनों से जुड़ा कोई भी विमर्श द्विस्तरीय हो जाता है। एक स्तर तो इन दोनों के मूल चरित्र को विश्लेषित करते हुए इनके आपसी रिश्ते की पड़ताल करने का होता है, जबकि दूसरा स्तर यह पता लगाने का होता है कि अभी के समय में, जबकि इन दोनों में से किसी को खारिज नहीं किया जा सकता है, तो फिर विरोधी होने के बावजूद, इन दोनों की सहयात्रा के सैद्धांतिक सूत्र क्या हैं, व्यावहारिक उपक्रम क्या हैं ?

इस विमर्श की शुरूआत इस खुलासे से हो सकती है कि वैश्वीकरण एक आर्थिक परियोजना है। यद्यपि इसके सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जैसे अन्य आयामों की भी चर्चा होती है, लेकिन ये सब परिधिगत हैं और अपने केन्द्रीय आयाम में वैश्वीकरण शुद्ध आर्थिक है और अन्य आयाम इस अर्थ–केन्द्रीयता को सपोर्ट करने वाले हैं। हाँ! 'विश्व' से उत्पन्न होने के कारण ''वैश्वीकरण'' शब्द से जरूर यह खुशफहमी पैदा होती है कि यह कुछ ऐसा है कि इससे पूरे विश्व का हित होगा, जबकि ऐसा कुछ है नहीं । है सिर्फ इतना ही कि यह व्यापार में केवल मुनाफे के लिए संचार माध्यमों के सहारे पूरी दुनिया को एक करने की योजना है। इसलिये इसकी तुलना भारत के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उद्घोषणा से नहीं हो सकती है, जैसा कि कुछ लोग साम्य बिठाने की कोशिश में अतिउत्साह में कर देते है; क्योंकि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एक नैतिक उद्घोषणा है, जो आत्मिक स्तर पर सभी लोगों की समानता के बोध से निःस्तृत हुयी है; जबकि वैश्वीकरण एक आर्थिक परियोजना है, जो सिर्फ दैहिक भोग की अतिरिक्तता और आतुरता के लिए धन कमाने के उद्देश्य से रची गयी है। **थामस फ्रीडमैन** की यह परिभाषा कि– ''वैश्वीकरण वास्तव में बाजारों, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इसमें विश्व का मध्यम से छोटे रूप में ऐसा संकुचन हो रहा है जिससे हम सभी दुनिया के हर कोने में इतनी जल्दी और सस्ते में पहुंच जायें जितने में पहले कभी संभव नहीं था। पूर्व की सभी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भांति यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी संबंधों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।''[1]– इस तथ्य को सिद्ध करती है।

दूसरे महायुद्ध के पश्चात् औद्योगिक शक्ति और सैन्य शक्ति के रूप में जिन दो ध्रुवों–क्रमशः अमेरिका और रूस–का जन्म हुआ था, उनमें से एक ध्रुव सैन्य शक्ति रूस का विघटन हो गया। इसका परिणाम हुआ कि दुनिया औद्योगिक शक्ति अमेरिका के नेतृत्व में एकध्रुवीय हो गई। इससे अमेरिका के समर्थक होने के कारण पूंजीवाद को खुलने–खेलने का पूरा अवसर मिला। वैश्वीकरण पूंजीवाद के इसी खुल कर खेलने का नतीजा है। तभी तो **सच्चिदानंद सिन्हा** कहते हैं–''.....यह व्यवस्था सारे संसार को कुछ

सशक्त पूंजीवादी प्रतिष्ठानों यानी बहुराष्ट्रीय कंपनियों और उनके संकेन्द्रण के सबसे सबल केन्द्र अमेरिका के हितों की रक्षा का माध्यम बनी हुई है। संसार को एक करने की इसकी दृष्टि पूरी तरह एक आयामी है। यह सिर्फ व्यापार के लिए दुनिया को एक करना चाहती है– बाकी सारी बातें आनुशंगिक हैं।''[3]

इस विमर्श को इस स्पष्टीकरण के साथ आगे बढ़ाना जरूरी है कि मानव अधिकार मनुष्य को मनुष्य होने के कारण मिलने वाले अधिकार हैं। यहां 'मनुष्य होने के कारण' का अर्थ उस गरिमा से है, जो उसे जन्म से मिली होती है। मनुष्य यदि संसार के दूसरे प्राणियों से भिन्न और खास है तो इस गरिमा के कारण ही। अब चूँकि यह गरिमा उसकी स्वतंत्रता, उसकी समानता और उसकी निजता से जुड़ी हुई है, इसलिए मानवाधिकार उन अधिकारों की संकल्पना है, जिनसे मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता और निजता सुरक्षित और संवर्द्धित होती है। दरअसल मनुष्य दूसरे प्राणियों से पृथक ही इस बात को लेकर है कि वह उनकी तरह आनुवंशिकी से संचालित नहीं होता। इसलिए इसके क्रियाकलाप, आनुवंशिकी से संचालित नहीं होने के कारण, उनकी तरह पहले से नियंत्रित–निर्धारित नहीं होते । इस कारण वह परिस्थितियों और जरूरतों के हिसाब से व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र होता है। यही स्वतंत्रता उसे प्रतिकूल स्थितियों से उबरने के लिए ऐसी आदर्श स्थिति के बारे में सोचने की सुविधा देती है, जो उसके अनुकूल हो। इसी अनुकूलता की खोज उसे उस आदर्श समाज की संरचना करने का ख्याल देती है, जहां कोई प्रतिकूलता न हो। मानवाधिकार इसी आदर्श ख्याल को अमली जामा पहनाने का उपक्रम है। इसीलिये **सच्चिदानंद सिन्हा** मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा के बारे में कहते हैं– ''इस घोषणा के प्रावधानों में सभी जगह बाहरी दबावों से मुक्त स्वतंत्र वैचारिक और शारीरिक अस्तित्व की चाहत एक अंतरधारा की तरह दिखायी देती है। दरअसल यह जीवन के साथ स्वतंत्रता के अन्योन्याश्रय संबंध की ही अभिव्यक्ति है।''[6]

मानव अधिकार का सफर बर्लिन कांग्रेस, ब्रुसेल्स सम्मेलन, हेग के दोनों सम्मेलनों तथा अंतरराष्ट्रीय विधि संस्थान द्वारा घोषित अंतरराष्ट्रीय मानव अधिकारों द्वारा आगे बढ़ा जिसमें और त्वरा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आयी। द्वितीय विश्व युद्ध में जो भयानक संहार हुआ, हिंसा और विनाश हुआ, उससे विचलित दुनिया को मानव अधिकारों के संवर्धन की आवश्यकता शिद्दत से महसूस हुई। यह महसूस हुआ कि मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए मजबूत विधि–व्यवस्था होनी चाहिए। इस आवश्यकता को अटलांटिक चार्टर 1941 तथा संयुक्त राष्ट्र घोषणा 1942 में और प्रमुखता से उभारा गया। इसी कारण 1945 में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना में आये हुए प्रतिनिधियों ने जब मानव अधिकार विषयक घोषणाओं और व्यवस्थाओं को चार्टर में शामिल करने की मांग की तो उसे तुरत स्वीकार लिया गया। 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा इसी स्वीकृति का नतीजा था। चूँकि यह नतीजा लंबे सफर के बाद मिला

था, इसीलिए सच्चिदानंद सिन्हा कहते हैं कि – ''1948 के 10 दिसंबर को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सार्विक मानवाधिकार की घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) एकबारगी अस्तित्व में आयी घटना नहीं थी। यह मनुष्य में अंतरनिहित स्वाधीनता की भावना की अनेक सदियों में टेढ़े मेढ़े रास्ते से चलकर एक मुकाम तक पहुंचने की बेला थी। वह भी एक पड़ाव ही था। इसके आगे इसे लोगों के जीवन की असलियत बनाने एवं महज आदर्श से उतार कर हाड़ मांस से सजाने में अनेक मंजिलों को तय करने की चुनौती आनेवाली पीढ़ियों तक जारी रहेगी ही। इसके लिए मानव अधिकारों को सुनिश्चित करने की दिशा में सक्रिय लोगों को इस सच्चाई से रूबरू होने की जरूरत है कि मानव स्वतंत्रता की चाहत कुछ लोगों की सदिच्छा से प्रचारित आदर्शों की परिणति नहीं है बल्कि जीवन और विशेषकर मानव जीवन के अस्तित्व की अनिवार्य स्थिति है।''[8]

इसी अनिवार्यता के कारण प्रस्तावना सहित 30 अनुच्छेदों वाले इस सार्वभौम घोषणा–पत्र में मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता तथा गरिमा के साथ–साथ आर्थिक कल्याण, सामाजिक विकास एंव सांस्कृतिक पूर्णता पर तो बल दिया ही गया है, इसमें पारस्परिक सहयोग और विश्वशांति की आवश्यकता भी उद्घोषित की गई है। **डॉ. टी. पी. त्रिपाठी** इस घोषणा–पत्र की अंतर्वस्तु पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं–''घोषणा एक विस्तृत एवं विषम दस्तावेज है। इसके प्रावधान सारगर्भित शब्दों से युक्त पचास पैराग्राफ में व्यक्त किये गये हैं। अपने 30 अनुच्छेदों में यह घोषणा मूल अधिकारों एंव स्वतंत्रताओं का विस्तृत वर्णन करता है। प्रत्येक व्यक्ति इस घोषणा में उपवर्णित सभी अधिकारों एवं स्वतंत्राओं का हकदार है। इसमें मूलवंश, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक या अन्य विचार, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव, संपत्ति, जन्म या अन्य प्रास्थिति के आधार पर कोई विभेद नहीं किया जायेगा । दूसरे शब्दों में घोषणा उन तमाम नागरिक राजनैतिक और धार्मिक स्वतंत्रताओं का समावेश करती है जिसके लिए लोगों ने लंबे काल से संघर्ष किया है। यह उन आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों का भी उल्लेख करता है जिन्हें अब मान्यता प्राप्त हो रही है।''[9]

इस मान्यता को और सृदृढ़ करने के लिए इस सार्वभौम घोषणा के बाद 1968 और 1993 में क्रमशः तेहरान और वियना में मानवाअधिकारों पर विश्व सम्मेलन किये गये। फिर जेनेवा में मानवाधिकार केन्द्र स्थापित कर मानवाधिकारों के लिए उच्चायुक्त पद का गठन भी किया गया। यह उच्चायुक्त महासचिव के निर्देशन में कार्य करते हुए मानवाधिकारों के संरक्षण एवं प्रोत्साहन के लिए हर संभव प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त मानवाधिकार आयोग, मानवाधिकार परिषद्, अंतर्राष्ट्रीय विधि आयोग, मानवाधिकार समिति तथा मानवाधिकार न्यायालय आदि का गठन भी किया गया तथा राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर भी क्रमशः राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तथा राज्य

मानवाधिकार आयोग की स्थापना की गईं। ये सभी संस्थायें अपने–अपने स्तर पर और अपने–अपने दायरे में सदैव मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

परन्तु इन तमाम प्रयत्नों के बावजूद राज्य, राष्ट्र और विश्व सभी स्तरों पर मानवाधिकारों का हनन होता रहता है। व्यावहारिक स्तर पर इसका कारण किसी बाध्यकारी वैधानिक ताकत का अभाव या फिर उन संस्थाओं एवं अधिकारियों की शिथिलता हो सकती है, जिन पर इसकी सुरक्षा का दायित्व है; परन्तु वैचारिक स्तर पर इनके हनन का बड़ा कारण वैश्वीकरण है; क्योंकि वैश्वीकरण सुनने में जितना आकर्षक लगे, इसकी परिणति शोशण और दासता ही है। वैश्वीकरण विषयक ऊपर की चर्चा से यह बात तो स्पष्ट हुई ही है, **जेरेमी सीब्रुक** भी इसे स्वीकारते हुए कहते हैं– ''........यह प्रणाली पुरातन जीवन–शैलियों, संसाधन आधार तथा मानवता के बीच के संतुलन तथा जरूरतों को किफायती विनम्रता के साथ पूरा करने की प्रथाओं को नष्ट करती, लोगों को उनके जीवनधारी खेतों–जंगलों से बेदखल करती, बेरहमी से उस एकमात्र मुकाम की तरफ खदेड़ रही है जिसे वैश्विक बाजार कहते हैं, और जहां किसी के साथ कोई लिहाज नहीं बरता जाना तय है।''[10]

इस लिहाज नहीं बरते जाने के कारण ही 2007 में जब जर्मनी में आठ अमीर मुल्कों के प्रतिनिधि वैश्विक अर्थ–व्यवस्था पर विचार करने के लिए जमा हुए थे तो वहां की सड़कों पर पूरे यूरोप से आये युवकों ने वैश्वीकरण के विरूद्ध उग्र प्रदर्शन किया था।11 इस विरोध–प्रदर्शन की उग्रता इस घटना से आंकी जा सकती है कि जर्मनी में सुरक्षा की ऐसी मजबूत व्यवस्था दूसरे महायुद्ध के बाद पहली बार हुयी थी, तब भी वे प्रदर्शनकारी सुरक्षाकर्मियों से भिड़ गये और उसका परिणाम यह हुआ कि बड़ी संख्या में लोग हताहत हुए। दरअसल निकट अतीत से यूरोप की अर्थव्यवस्था वैश्वीकरण के कारण लगातार मंदी के दौर से गुजर रही है, जिसके कारण वहां के जन–जीवन में कइिनाईयां बढ़ी हैं। वह विरोध इन कठिनाइयों से उपजे असंतोष की ही अभिव्यक्ति थी। वहां का युवा वर्ग इस सच्चाई से पूरी तरह वाकिफ हो गया है कि वैश्वीकरण पूंजीवाद का ही विस्तार है, इसलिए इस प्रक्रिया में पहले से स्वीकृत कल्याणकारी पहलू छूटता जा रहा है, जो कि किसी भी हाल में छूटना नहीं चाहिए। अतः वे अपने प्रदर्शन के द्वारा इस बात की मांग कर रहे थे कि इस अकल्याणकारी अर्थव्यवस्था के बदले ऐसी अर्थव्यवस्था निर्मित होनी चाहिए जिससे कि आम जन का हित हो सके।

जर्मनी में यूरोपीय युवकों द्वारा किया गया यह विरोध इस बात का सूचक और सबूत है कि वैश्वीकरण जिस कल्याण की बात करता है, जो हितकारी सपने दिखाता है, वह छलावा और फरेब है। इस तथ्य की पुष्टि विकास दर में आयी उस गिरावट से भी होती है जिस पर हाल में टोक्यो में हुई आई एम एफ और वर्ल्ड बैंक की बैठक[12] में चिंता जाहिर की गई। इस प्रकार इन विरोधों और चिंताओं से यह सुनिश्चित हो जाता है कि

वैश्वीकरण अंततः अहितकारी व्यवस्था है और इससे मानवाधिकार का हनन और क्षरण होता है। **सच्चिदानंद सिन्हा** इससे सहमति जताते हुए विस्तार से कहते हैं कि –''दुनिया के विविध समाजों में लोगों की स्वायत्तता और स्वतंत्रता पर खतरा आर्थिक या सामाजिक विषमता से भी होती रही है। ऊंची आय या ओहदा पाने की लालसा में या इन्हें पा लेने पर कायम रखने के लिए दुनिया भर में दूसरे लोगों का शोषण करने की कोशिश होती रहती है। वर्तमान समाज में अमेरिका तथा यूरोप के संपन्न देश अपनी संपन्नता को कायम रखने या बढ़ाने के लिए इसके बावजूद कि संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार घोषणा पत्र जारी करने में उनकी भूमिका रही है– संसार के अनेक देशों में उनके संसाधनों (मसलन पश्चिम एशिया में तेल और गैस) पर नियंत्रण के लिए इस घोषणा के प्रावधानों का खुलकर उल्लंघन कर रहे हैं। हाल के दिनों में जो कुछ इराक में हुआ है या इसके पूर्व जो चिली में अयेंदे की समाजवादी सरकार के साथ हुआ था इसका बड़ा उदाहरण है। बिना मुकदमा लोगों को जिस तरह ग्वांतनामो बे में सैकड़ों की तादाद में पिजड़ों में बंद कर रखा जा रहा है, यह बतलाता है कि पूंजीवादी शोषण को कायम रखने के लिए मानवाधिकारों की खुलेआम धज्जियां कैसे उड़ाई जाती हैं। विडंबना यह कि यह सब उन्मुक्त भूमंडलीकृत व्यवस्था कायम करने के नाम पर हो रहा है। यहां 'उन्मुक्त व्यापार' की व्यवस्था का मानव मुक्ति के पिछले सदियों से चलाये गये अभियान से सीधी टकराहट है। अब वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था उस मुकाम पर पहुंच गयी है जब यह मानवाधिकारों को नष्ट किये बगैर अपने को स्थापित नहीं कर सकती या अपना प्रसार नहीं कर सकती।. ..... अब पूंजीवाद बाजार की उन्मुक्तता के नाम पर लोगों के जीवन के आधार जल, जंगल और जमीन सभी को औद्योगिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के नियंत्रण में लाने के क्रम में असंख्य लोगों के लिए जीवन के अधिकार को ही नष्ट कर रहा है।''13

लेकिन अभी के वक्त का अंतर्विरोध यह है कि इस वैश्वीकरण को एकदम से खारिज नहीं किया जा सकता है, इससे पूरी तरह परहेज नहीं रखा जा सकता है। इसके कई कारणों में से आधारभूत कारण यही है कि इस वक्त को या किसी भी काल के वक्त को किसी भी तरह पीछे नहीं ले जाया जा सकता है। यद्यपि यह सही है कि अतीत में बहुत कुछ ऐसा था जो अभी से बेहतर था, स्वतंत्र और शोषणमुक्त था; और यदि ये सब थोड़ा–बहुत था भी तो ऐसा छली और मायावी नहीं था और न ही उसका दायरा इतना व्यापक और विस्तृत था। अभी के समय का कोई भी व्यक्ति यदि अपने पचास साल के पीछे की स्मृतियों को टटोले तो खूब अहसास होगा कि तब गांव–समाज के लोगों के साथ जैसा आत्मीयता रिश्ता था वैसा अभी दुनिया के लोगों से जुड़ने पर नहीं रह गया है। तब जैसी शांति, निश्चितता और संवेदनाओं की सघनता थी वह अब नहीं रह गयी है। लेकिन बावजूद इसके अब फिर से वहां लौटा नहीं जा सकता है। अतीत स्मृतियों का ही सच रहेगा, वर्तमान का यथार्थ नहीं बन सकता है। इसलिए अभी की तमाम त्रासदियों को

भोगते हुए जीना वर्तमान में ही पड़ेगा, बढ़ना आगे ही पड़ेगा। तब वैश्वीकरण की इस अनिवार्यता और इसके द्वारा मानवाधिकार हनन की इस सच्चाई को स्वीकारते हुए किसी ऐसे सूत्र की तलाश करनी पड़ेगी जो इन दोनों के सहअस्तित्व को संभव बनाये; जिससे कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया के चलते हुए भी इसकी वजह से मानवाधिकारों का हनन न हो।

यह सूत्र गांधी की हदों से मिल सकता है। गांधी अतीत के होते हुए भी भविष्य के सूत्रधार हैं। उन्होंने अपनी विचार–सारणी और जीवन–पद्धति दोनों के द्वारा कुछ ऐसी स्थापनायें दी हैं, जिनकी वजह से आज दुनिया अपने लगभग सभी समस्याओं के समाधान के लिए उन्हीं के दरवाजे पर दस्तक देती है। यद्यपि कहने के लिए कहने वाले यह जरूर कहते हैं कि उनकी स्थापनायें वायवीय हैं, उनके समाधान अव्यावहारिक हैं, लेकिन एक तो गांधी के स्वयं का जीवन उनकी व्यावहारिकता की गवाही है और दूसरे औरों का अपनी उलझनों को सुलझाने के लिए तमाम अन्य संभावनाओं को टटोल कर उनके पास जाना भी उनकी व्यावहारिकता का ही प्रमाण है। अतः वैश्वीकरण और मानवाधिकार के अंतर्सम्बन्धों की पड़ताल करते हुए इनकी सहयात्रा के लिए जरूरी उपादान वहीं से मिल सकते हैं, और यह उपादन उनकी हदें हैं।

गांधी अपनी बीज पुस्तिका 'हिन्द स्वराज' में इन हदों की बात करते हैं। ये हद द्विआयामी हैं। एक आयाम भीतर का है और द्वारा आयाम बाहार का । भीतरी आयाम में उनकी हद, वृत्तियों की हद है। वे कहते हैं– ''हमने देखा कि मनुष्य की वृत्तियां चंचल हैं। उसका मन बेकार की दौड़ धूप किया करता है। उसका शरीर जैस–जैसे ज्यादा दिया जाये वैस–वैसे ज्यादा मांगता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है। इसलिए हमारे पुरखों ने भोग की हद बांध दी।''[14] गांधी वृत्तियों की इस हद की बात इसलिए करते हैं कि इससे व्यक्ति भोग से, भोग के सम्मोहन से बच सकता है। वैश्वीकरण जिस अनियंत्रित भोग को प्रश्रय देता है, जिस बेतहाशा धन–संग्रह को महिमामंडित कहता है, इस हद के द्वारा उनसे बचा जा सकता है। दरअसल इस भोग, इस संग्रह की जरूरत ही तब पड़ती है जब मन नियंत्रित नहीं होता। मन की प्रकृति दोलायमान होती है। वह थिर नहीं होता। वैश्वीकरण इस अस्थिरता और दोलन को उकसाता है, गति देता है। इसलिए इस उकसावे में आकर मन उन अनावश्यक चीजों की भी मांग करने लगता है, जो उसके लिए आवश्यक नहीं होतीं। फिर शुरू होती है कभी न थमने वाली दुश्पुर लालसा की दौड़ और इसके लिए गलाकाट प्रतिस्पर्धा । यह स्पर्धा और दौड़ मनुष्य को ऐसे दुष्चक्र में फंसा देती है, जिससे उबरना लगभग असंभव होता है। भारतीय परंपरा में ययाति की कथा इस तथ्य का उदाहरण है । ययाति की अपनी जवानी में सारा भोग भोग लेने के बाद भी जब उसकी भोग की इच्छा बची रह गयी तो उसने अपने बेटे की जवानी ले ली, लेकिन फिर भी उसकी भोग की

इच्छा पूरी नहीं हुई। यह कथा इस बात का सूचक है कि मन को खुला छोड़ देने से अनिष्ट होता है; क्योंकि यह खुलापन बांधता है, परतंत्र बनाता है। अतः इस परतंत्रता से तभी बचा जा सकता है, जब मन को नियंत्रित किया जाये। इसी नियंत्रण के लिए गांधी हद की बात करते हैं। इस हद के बंध जाने पर वैश्वीकरण के किसी उकसावे से मन भोग के लिए उत्सुक नहीं होता। फलतः उसकी स्वतंत्रता सुरक्षित और गरिमा अक्षुण्ण रहती है।

लेकिन चूंकि बाहर की परिस्थितियां मन की हद को तोड़कर उसे अनियंत्रित करने में अहम भूमिका निभाती हैं, इसलिए मन की हद बांधने के लिए बाह्य परिस्थितियों का नियंत्रण भी आवश्यक है। गांधी ने जब बाहर की परिस्थितियों को अनियंत्रित करनेवाले कारकों की खोज की तो उन्हें पता चला कि इसके लिए मुख्य रूप से यंत्र जिम्मेवार हैं। इसलिए उन्होंने यंत्रो की हद बांधने की भी बात कही। यह हद, हद का बाहरी आयाम है। यद्यपि गांधी प्रारंभ में यंत्रों की हद की नहीं बल्कि उसके संपूर्ण नाश की बात करते हैं। इसलिए 'हिन्द स्वराज' के मूल में वे उससे पूर्ण असहमति जताते हुए कहते हैं– ''यंत्र तो सांप का ऐसा बिल है, जिसमें एक नहीं बल्कि सैकड़ों सांप होते हैं। एक के पीछे दूसरा लगा ही रहता है। जहां यंत्र होंगे वहां बड़े शहर होंगे। जहां बड़े शहर होंगे वहां ट्रामगाड़ी और रेलगाड़ी होगी। वहीं बिजली की बत्ती की जरूरत रहती है। आप जानते होंगे कि विलायत में भी देहातों में बिजली की बत्ती या ट्राम नहीं है। प्रामाणिक वैद्य और डॉक्टर आपको बतायेंगे कि जहां रेलगाड़ी, ट्रामगाड़ी वगैरा साधन बढ़े हैं, वहां लोगों की तन्दुरूस्ती गिरी हुई होती है। मुझे याद है कि यूरोप के एक शहर में जब पैसे की तंगी हो गयी थी तब ट्रामों, वकीलों और डॉक्टरों की आमदनी घट गयी थी, लेकिन लोग तन्दुरूस्त हो गये थे । यंत्रों का गुण तो मुझे एक भी याद नहीं आता, जबकि उसके अवगुणों से मैं पूरी किताब लिख सकता हूँ।''[15]

परन्तु बाद में जब उन्हें लगा कि यंत्र का पूर्ण विनाश संभव नहीं है, तो वे हद बांध कर इसे स्वीकार करने के लिए सहमत हो गये। यह सहमति उन्होंने 1909 में 'हिन्द स्वराज' लिखने के 15वर्षों बाद 1924 में रामचन्द्रन से यंत्र पर बातचीत करते हुए व्यक्त की। उन्होंने कहा– ''मेरा विरोध यंत्रों के लिए नहीं है, बल्कि यंत्रों के पीछे जो पागलपन चल रहा है, उसके लिए है। आज तो जिन्हें मेहनत बचानेवाले यंत्र कहते हैं, उनके पीछे लोग पागल हो गये हैं। उनसे मेहनत जरूर बचती है, लेकिन लाखों लोग बेकार होकर भूखों मरते हुए रास्तों पर भटकते हैं। समय और श्रम की बचत तो मैं भी चाहता हूँ, परन्तु वह किसी खास वर्ग की नहीं, बल्कि सारी मानव–जाति की होनी चाहिए। कुछ गिने–गिनाये लोगों के पास संपत्ति जमा हो ऐसा नहीं, बल्कि सबके पास जमा हो ऐसा मैं चाहता हूँ। आज तो करोड़ों की गरदन पर कुछ लोगों के सवार हो जाने में यंत्र मददगार हो रहे हैं। यंत्रों के उपयोग के पीछे जो प्रेरक कारण है वह श्रम की बचत नहीं है, बल्कि

धन का लोभ है।......सबसे पहले यंत्रों की खोज और विज्ञान लोभ के साधन नहीं रहने चाहिए। फिर मजदूरों से उनकी ताकत से ज्यादा काम नहीं लिया जायेगा, और यंत्र रूकावट बनने के बजाय मददगार हो जायेंगे। मेरा उद्देश्य तमाम यंत्रों का नाश करने का नहीं है, बल्कि उनकी हद बांधने का है।''[16]

यह हद सबसे पहले तो वैश्वीकरण की प्रक्रिया को नियंत्रित करेगी। वैश्वीकरण की सारी प्रक्रिया यंत्रों के सहारे चलती है। ये यंत्र संचार माध्यम के हैं– चाहे वह दूरदर्शन हो, कंप्यूटर हो, इटरनेट हो या और कुछ हो, और कोई हो। इन्हीं संचार माध्यमों के सहारे वैश्वीकरण लोगों को बांधने का अपना संजाल फैलाता है। 'विश्व–ग्राम' की परिकल्पना भी इन्हीं संचार माध्यमों के सहारे की गई है। शोषण के तमाम संरजाम भी इन्हीं माध्यमों के बूते किये जाते हैं। इसलिए यदि इन संचार माध्यमों की हद बांध दी जाये तब फिर वैश्वीकरण अपना ताना–बाना नहीं बुन पायेगा। लेकिन इस हद का मतलब सरकार या अन्य किसी संस्था द्वारा संचार माध्यमों पर नियंत्रण नहीं है, जैसा कि सरकार कई बार मीडिया पर प्रतिबंध लगाने की बात करती है; बल्कि इस हद का अर्थ किसी भी व्यक्ति द्वारा सीमित संचार माध्यमों का सीमित उपयोग है। जब संचार माध्यम सीमित होंगे और उनका उपभोग भी सीमित होगा तक फिर वैश्वीकरण द्वारा न तो पूंजी की ऐसी निर्बाध और त्वरित आवाजाही होगी, न असीम उपभोग के लिए उकसाया जा सकेगा और न ही असीम संग्रह के लिए सम्मोहन फैलाया जा सकेगा।

फिर यंत्रों की हद बांधने से असीम वस्तुओं का उत्पादन भी नहीं हो सकेगा। अभी यंत्रों की हद नहीं बांधे जाने के कारण बड़े, जटिल और स्वचालित यंत्रों के बल पर चलनेवाले उद्योग से असीम वस्तुओं का उत्पादन होता है। फिर इन असीम वस्तुओं को बेचने के लिए यंत्रों के द्वारा ही लोगों को व्यामोहित किया जाता है। यह व्यामोहन विज्ञापन के माध्यम से किया जाता है। रोज नई–नई उत्पादित वस्तुओं का ऐसा प्रचार–प्रसार किया जाता है, उसके इतने फायदे गिनाये जाते हैं कि लोग उस फरेब के शिकार हो जाते हैं। इस विज्ञापन के कारण ही लोगों को गैरजरूरी चीजें भी जरूरी लगने लगती हैं । फिर वे इन्हें पाने की होड़ में पड़ जाते हैं और अपनी गाढ़ी कमाई बहुराष्ट्रीय कंपनियों की झोली में डाल देते हैं। इस प्रकार यंत्रों के माध्यम से किया जानेवाला विज्ञापन वैश्वीकरण के मुहिम का अनिवार्य हिस्सा है। अतः यंत्रों की हद बांध देने से वैश्वीकरण के मूल–असीम वस्तुओं के उत्पादन–पर ही रोक लग जायेगी। फिर उनके बेचने के लिए विज्ञापन का ऐसा फरेबी संजाल भी नहीं फैलाया जा सकेगा।

इसके अतिरिक्त यंत्रों की इस हद से विकेन्द्रीकरण को बढ़ावा मिलेगा। वैश्वीकरण उत्पादन और वितरण दोनों की केन्द्रीकृत प्रणाली है। इसमें उत्पादन भी केन्द्रीय स्तर पर होता है और वितरण भी केन्द्रीय स्तर से ही संचालित होता है। इसलिए इसमें किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक समूह के हाथ में सारा नियंत्रण रहता

है। इससे उसे शोषण करने और वर्चस्व जमाने की सुविधा मिल जाती है। इसीलिए गांधी ने केन्द्रीकरण के विरूद्ध विकेन्द्रीकरण की बात की है। उन्होंने कहा है– ''यदि उत्पादन और वितरण दोनों उन्हीं क्षेत्रों में हो जहां उन चीजों की जरूरत है, तो वितरण का नियमन अपने–आप हो जाता है; उसमें धोखेबाजी को कम मौका मिलता है और सट्टे को तो बिल्कुल नहीं मिलता।......जब उत्पादन और उपभोग दोनों स्थानीय बन जाते हैं, तब अनिश्चित मात्रा में और किसी भी मूल्य पर उत्पादन की गति बढ़ना बंद हो जाता है। तब हमारी व्यवस्था में उपस्थित होनेवाली तमाम असंख्य कठिनाईयां और समस्यायें खत्म हो जायेंगी।''[17]

इस प्रकार गांधी की इस दूसरी हद के द्वारा बाहर की परिस्थितियां भी नियंत्रित हो जायेंगी और तब मनुष्य की वृत्तियों को अनियंत्रित करने वाला कोई माहौल नहीं बन पायेगा, क्योंकि तब मन को प्रलोभन में डालने वाली अनावश्यक वस्तुयें न तो बनेंगी और न ही विज्ञापन के जरिये लोगों को उन्हें खरीदने के लिए सम्मोहित किया जायेगा। इस प्रकार जब मनुष्य के भीतर का मन और बाहर की स्थिति दोनों नियंत्रित हो जायेंगी, दोनों हद में रहेंगी, तब फिर उसका शोषण भी नहीं हो पायेगा, उस पर कोई वर्चस्व भी नहीं जमा पायेगा । और तभी उसके सारे मानवाधिकार सुरक्षित रह पायेंगे। स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का जो सपना सदियों पहले देखा गया था, वह साकार हो पायेगा। वंश, लिंग, रंग, राष्ट्र, जाति, धर्म, भाशा आदि के आधार पर, किसी के भी साथ, कोई भेदभाव नहीं बरते जाने की जो सार्वभौम घोषणा हुयी है, वह पूरी हो पायेगी।

इस तरह यह स्पष्ट और सुनिश्चित हो जाता है कि गांधी की हदों के द्वारा वैश्वीकरण और मानवाधिकार की इकट्ठी स्वीकृति संभव है। ये हद ही इन दोनों की सहयात्रा के जरूरी उपक्रम हैं।

संदर्भ :

1. डॉ. रविप्रकाश पाण्डेय की पुस्तक 'वैश्वीकरण एवं समाज', पृ.–9 शेखर प्रकाशन, 101 चक, जीरो रोड, इलाहबाद, नवम्बर, 2005 से उद्धृत
2. सच्चिदानंद सिन्हा; 'भूमंडलीकरण की चुनौतियां;' भूमिका, पृ.–7; वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002; 2003
3. सच्चिदानंद सिन्हा; 'पूंजीवाद का पतझड़', पृष्ट–53; मराल प्रकाशन, संजय सिनेमा रोड, राहुल नगर, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर–842003; 2007
4. 'पूंजीवाद का पतझड़', पृ.–51
5. वही, पृ–11

6. जेरेमी सीब्रुक; ''भूमंडलीकरण बनाम अंतरराष्ट्रीयतावाद'', 'युवा संवाद', वर्ष–1, अंक–9, दिसम्बर 2003,

पृ–16; 167–ए / जी.एच.–2, पश्चिम विहार, नई दिल्ली–63

7. देखें पारसनाथ चौधरी का आलेख– 'फिर बगावत की राह पर यूरोप का युवा वर्ग', प्रभात खबर, 25

जून 2007, देवघर, झारखंड

8. देखें एन के सिंह का लेख– 'वैश्विक वित्तीय संस्थाओं की प्रासंगिकता', हिन्दुस्तान, संपादकीय, पृ.–22

अक्टूबर 2012, मुजफ्फरपुर, बिहार

9. वही, 'पूंजीवाद का पतझड़', पृ.–56–57

10. गांधीजी, 'हिन्द स्वराज' (अनुवादक–अमृतलाल ठाकोरदास नाण वटी) पृ.–43; नवजीवन प्रकाशन मंदिर,

अहमदाबाद–14; दिसम्बर, 2005

11. वही, पृ.–78–79

13. वही, नई आवृत्ति की प्रस्तावना, पृ.–14

14. गांधीजी; 'ग्राम–स्वराज्य' (संग्राहक–हरिप्रसाद व्यास); पृ.–21; नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14; जनवरी 2003

मानव अधिकार की अवधारणा'*

#प्रो0 एच0 सुवदनी देवी

मानवाधिकारों की संकल्पना एक व्यापक जीवन–दर्शन पर आधारित संकल्पना है जिसके घेरे में समूचा जीवन और समाज व्यवस्था आ जाती है। मानवाधिकारों की संकल्पना की बुनियाद है मनुष्य को सब कुछ का पैमाना मानना। मेन इज दी मेजर ऑफ ऑल थिंग्ज। इसी बात को कार्ल माकर्स ने ''मेन इज दी रूट ऑफ मैनकाइन्ड'' कह कर व्यक्त किया है। मनुष्य मानवता की जड़ है : मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, मनुष्य चीजों का माप दण्ड है, मनुष्य ही एक मात्र सत्य है। इस तरह की बातें इस विचारधारा को मानने वाले लोगों से अक्सर सुनने को मिल जाती हैं। वैज्ञानिक मनुष्य को जीवों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, दार्शनिक उसमें चेतना की चरम अभिव्यक्ति खोजते हुए सृष्टि का केन्द्रीय स्थान उसी को देते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के इतिहास को एक यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में देखने और मानवीय नियति को यान्त्रिक स्तर पर नियन्त्रित कर सकने की आशा करने वाले भी अपने प्रयत्नों का प्रयोजन मनुष्य का कल्याण ही मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था की कसौटी और बुनियादी प्रेरणा भी यही है कि उनके अन्तर्गत मनुष्य के बहुआयामी विकास को किस सीमा तक एक अनुकूल वातावरण व सुविधाएँ मिलती हैं। जो व्यवस्था मनुष्य के विकास की संभावनाओं को मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक स्तर पर रोकती है, उसे हर मानवीय और नैतिक व्यवस्था नहीं कह सकते। इसी प्रकार यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मनुष्य जैविक विकास का सर्वश्रेष्ठ स्तर है कि उसमें जीवन और चेतना की अद्यतन सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में इसके गुणात्मक उत्कर्ष की अपेक्षा भी मनुष्य से ही की जा सकती है। मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है मनुष्य अन्य जीवों से समर्थ, सचेत और श्रेष्ठ है अतः शेष जीवन और जगत की सुरक्षा और सम्पोषण का दायित्व भी उसी पर है। लेकिन इस के विपरीत वह अपनी श्रेष्ठता का गलत उपयोग भी करता है। जैसे प्रकृति और जीव–जगत का शोषण, दोहन और दमन करने को अपना अधिकार समझने लगता है। उसका दायित्व अधिक से अधिक अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों तक ही नहीं बल्कि धर्म और राष्ट्र के सदस्यों के प्रति भी है? यही तर्क समाज में लागू होता है अधिक विकसित और शक्तिशाली वर्ग के लोग अपने से कमजोर और हीन लोगों का उपयोग करते हैं। यही बात राष्ट्रों में भी लागू होता है कि बहुत ही विकसित

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (त्रिपुरा) में पढ़ा गया आलेख।

#प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय।

और शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा स्वाभाविक अधिकार के रूप में अपने से हीन और कमजोर राष्ट्रों का उपयोग होता रहा है। इसके द्वारा कई मानव को अपने अधिकारों से वंचित रहना पड़ सकता है। मानव अधिकारों का मूल सिद्धांत ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' पर आधारित है और इसी को आधार बनाकर मानव की गरिमा, मानव की स्वतंत्रता और जीने का अधिकार संबंधी विषयों पर इंसानियत की मर्यादाओं को परिभाशित करने का प्रयास है मानवाधिकार। जीम ।उमतपबंद भ्मतपजंहम क्पबजपवदंतल व जीम म्दहसपी स्ंदहनंहम के अनुसार भ्नउंद त्पहीजे की परिभाषा इस प्रकार दी है– **The Basic rights and freedoms to which all humans are entitled, often held to include the right to life and liberty, freedom of thought and expression, and equality before the law.'

James Crawford ने मानवाधिकार को इस प्रकार परिभाषित किया है– 'Rights are claims that have achieved a special kind of endorsement or success, legal rights by legal system, human rights by widespread sentiment or an international order'

मानव अधिकारों की परिकल्पना विगत शताब्दी के मध्य में विश्व समुदाय के समक्ष एक सर्वमान्य कसौटी के रूप में परिलक्षित हुई है। मानव अधिकारों के विभिन्न सोपानों का चिन्तन करने के साथ इसे विगत ऐतिहासिक पहलुओं पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। हमारे देश का प्राचीन इतिहास मानव अधिकारों की अवधारणा का द्योतक है। हमारे वेद, पुराण, स्मृतियाँ व अन्य धार्मिक एवं प्राचीन ग्रन्थ इसकी पृष्टि करते हैं। इसी पृष्ठभूमि में हमारी संस्कृति फली–फूली तथा विकासित हुई है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति मानव अधिकारों को केन्द्र में रखकर पुष्पित एवं पल्लवित हुई। इन सब के बावजूद मानव स्वयं में अपनी स्वार्थ–परायण–प्रवृत्ति विद्यमान है। अतः मानव स्वयं ही गलत रास्तों में ही चलने लगता है। इससे दूसरों के अधिकार का हनन होने लगता है।

प्रथम विश्व युद्ध के बाद ''लीग ऑफ नेशन्स'' की स्थापना हुई, परन्तु यह द्वितीय विश्वयुद्ध को होने से नहीं रोक पायी, जो और भी भयावह था। इसी के फलस्वरूप 26 जून, 1945 को 50 देशों ने जिनमें भारत भी शामिल था, संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के चार्टर पर हस्ताक्षर किये। इस चार्टर में सात स्थानों पर ''मानव अधिकरों'' का उल्लेख हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि सदस्य राष्ट्रों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे स्वयं एवं परस्पर सहयोग से मानव अधिकारों एवं मूलभूत स्वतंत्रताओं को बिना किसी भेदभाव के सुनिश्चित करने की दिशा में सक्रिय रूप से कार्य करेंगे। इसी क्रम में 1948 में एक पक्षीय मानव अधिकार घोषणा–पत्र को 48 सदस्य देशों द्वारा स्वीकार किया गया एवं तदोपरान्त संयुक्त राष्ट्र संघ में मानव अधिकार आयोग की स्थापना हुई, जिसने नई संधियों एवं विधिक प्रस्तावों को मानव कल्याण हेतु विश्व समुदाय के सम्मुख प्रस्तुत किया। मानव अधिकारों की यह सबसे सार्थक एवं सबल उद्घोषणा थी जिसमें व्यक्ति के नागरिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों को समाहित किया गया

है। हर आदमी प्राकृतिक रूप से मृक्त और आजाद है। उसके अपने कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं, जिन्हें समाज का अंग बनते ही उसे मिल जाने चाहिए। उसे इन अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। उन अधिकारों में मुख्य है संपत्ति उपार्जित करने, संपत्ति का स्वामी बनकर जीने, स्वतंत्रता का भोग करने और प्रसन्न होने का अधिकार। इस तरह बहुसंख्यक देशों में मानवाधिकार आयोग बने हैं। भारत सरकार की ओर से 1993 में मानवाधिकार अधिनियम बने।

एक तरफ मानवाधिकार का आन्दोलन अन्तरराष्ट्रीय रूप ले चुका है, दूसरी तरफ दुनिया भर में मानवाधिकार का हनन भी आगे बढ़ा। मानवाधिकार हनन में कितनी व्यापकता आयी। इस सन्दर्भ में आप का ध्यान मणिपुर की तरफ खींचना चाहूँगी। मणिपुर भारत की उत्तर–पूर्वी सीमा पर स्थित एक छोटा–सा पर्वतीय राज्य है। भौगोलिक दृष्टि से मणिपुर को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक पर्वतीय भाग और दूसरा घाटी का भाग। घाटी का भाग मणिपुर राज्य का केन्द्रीय भाग है। जहाँ मौते जाति के लोग बसते हैं। इस भाग को घेरते हुए चारों तरफ पर्वतीय क्षेत्र फैले हुए हैं, जहाँ विभिन्न प्रकार की जन–जातियाँ बसती हैं। इनमें मुख्यतः ताड़खुल, कबुई, जौ, सिमते, गाड़ते, मोइरेड़, कोम, कुकी, पाइते, मरिड़, अनाल, थादौ, मोयोन आदि 33 जन–जातियाँ हैं। ये विभिन्न जन–जातियाँ मणिपुर के विभिन्न पहाड़ों में बसती हैं और इनकी अलग–अलग संस्कृतियाँ हैं और इनकी अलग–अलग भाषाएँ हैं जो एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। इन विभिन्न जन–जातियों के बीच संप्रेशण का एकमात्र माध्यम मणिपुरी भाषा है। इन पहाड़ों में हमेशा कुछ–न–कुछ समस्याएँ होती रहती हैं।

इन प्रकार जहाँ मणिपुर समाज की विशिष्टता दिखाई देती है वहाँ इस समाज की महिलाओं की शानदार एवं सुकोमल प्रतिमाएँ दिखाई देती हैं। मणिपुरी इतिहास इस बात का साक्षी है कि यदि आदिकाल से लेकर आज तक के इतिहास में इस समाज को सुचारू रूप में रखने में महिलाओं का विशेष योगदान रहा है। वे समाज के हर कार्य में सक्रिय रूप में भाग लेती आयी हैं। जैसे शादी–विवाह, श्राद्ध–कर्म, पूजा पाठ आदि में महिलाएँ ही सारी व्यवस्था करती हैं। इनकी देखरेख में सभी काम संपन्न होते हैं। इन सभी सामाजिक कार्यों का सूक्ष्मतिसूक्ष्म ज्ञान इन्हें रहता है। मणिपुर में नौकर की व्यवस्था का पूर्णतः अभाव है। अतः सभी कामकाजी महिलाएँ सभी घरेलु काम निपटाने के बाद दफ्तर जाती हैं दफ्तर देर से पहुँचती हैं उसकी भी अलग समस्याएँ हैं। खेती बाड़ी के क्षेत्र में भी महिलाएँ पीछे नहीं रहती हैं। बोआई, कटाई, निराई आदि काम तो महिलाओं का ही है। इतना ही नहीं, जब–जब मणिपुरी समाज में भ्रष्टाचार और अन्याय की ज्वाला भड़क उठती है तब यहाँ की महिलाएँ रण–देवी दुर्गा का रूप धारण करती है। वे अन्याय को चुपचाप सहेंगी नहीं बल्कि साहस–पूर्वक सामना करेंगी।

सत्ता और समाज : उभरती चुनौतियाँ *

सत्यानंद पाठक

इंटरनेशनल मीडिया सपोर्ट (आईएमएस) नामक एक संगठन है। यह विश्व के तमाम संघर्ष पीड़ित इलाकों में मीडिया के साथ मिलकर काम करता है। यह संगठन खासतौर पर इन इलाकों में स्थानीय मीडिया कार्यकर्त्ताओं की सुरक्षा की पड़ताल करता है। इसने पिछले दिनों कोपेनगेहेन में 'संघर्ष के बाद मीडिया की स्थिति' पर अंतरराष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया। संगोष्ठी के दौरान अभिव्यक्ति की स्वाधीनता और प्रेस की स्वतंत्रता पर अंतरराष्ट्रीय नियमों और मानदंडों को हकीकत में उतारने जैसे विषय पर सकारात्मक बहस हुई। बहस में कहा गया कि जब तक एक नया अंतरराष्ट्रीय प्रक्रिया का विकास नहीं किया जाता अथवा वर्तमान निर्णयों को पूरी तरह लागू नहीं किया जाता तब तक हमें स्थानीय मीडिया के कार्यकर्त्ताओं को अवांछित जमीनी सतह पर सुरक्षा प्रदान करने के लिए किसी प्रभावी समाधान की तलाश करनी होगी।

पिछले दस वर्षों में छह सौ से अधिक पत्रकार या मीडियाकर्मी मारे गए हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो खबर और सूचनाएं आम लोगों तक पहुंचाने की जद्दोजहद कर हरे पत्रकारों में से प्रति सप्ताह एक पत्रकार अपनी जान गंवा बैठता है। पत्रकारों के खिलाफ हिंसा पर रोक लगाने के लिए यूनेस्को की पहल पर यूनाइटेड नेशंस चीफ एक्जीक्यूटिव बोर्ड ने अप्रैल 2012 में पहली बार पत्रकारों की सुरक्षा पर संयुक्त राष्ट्र कार्य योजना का अनुमोदन किया। कलम के सिपाहियों की दशा पूरे विश्व में कमोबेश एक जैसी है। विश्व का सचेतन समाज इस स्थिति पर समय–समय पर चिंता तो व्यक्त करता है, मगर ऐसा कोई ठोस उपाय अभी तक सामने नहीं आया, जिसके अपनाने से पत्रकारों–मीडियाकर्मियों की जान पर खतरा कम हो।

दरअसल लोकतंत्र का चौथा खंभा सत्ता और समाज के बीच द्वंद्व का शिकार हो रहा है। सत्ता की परिभाषा राबर्ट डाह्ल ने कुछ इस प्रकार की है : अगर कोई किसी से अपनी मर्जी के आधार पर कुछ ऐसे काम करवा सकता है, जो वह अन्यथा नहीं करता, तो इसे एक व्यक्ति की दूसरे पर सत्ता की संज्ञा दी जाएगी। इसका सूत्रीकरण केवल व्यक्तियों के संदर्भ में किया गया है। जैसे ही समूह और सामूहिकता के दायरे में सत्ता पर गौर किया जाता है, कई पेचीदा और विवादास्पद प्रश्न खड़े हो जाते हैं। समझा जाता है

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (मिज़ोरम) में पढ़ा गया आलेख

#संपादक, दैनिक पूर्वोदय, गुवाहाटी

कि सामूहिक संदर्भ में सत्ता का आशय ऐसे फैसले करने से है, जिन्हें मानने के लिए दूसरे लोग मजबूर हो। सत्ता से जुड़े अहम सवालों में महत्वपूर्ण यह है कि सत्ता समाज में व्यापक और समान रूप से वितरित है या किसी शासक वर्ग या इलीट के हाथों में केंद्रित है? सत्ता का प्रश्न उस समय और जटिल हो जाता है जब सत्ता और उसका उपयोग करने से जुड़े इरादे के समीकरण पर गौर किया जाता है। पार्टियां, सरकार, हित समूह और बड़े–बड़े कारपोरेट सत्ता का इस्तेमाल करते देखे जाते हैं। यह सत्ता के तीन आयामों की चर्चा करके उसके कई पहलुओं को समेटने की कोशिश की है। उनके अनुसार सत्ता का मतलब है निर्णय लेने का अधिकार अपनी मुट्ठी में रखने की क्षमता। सत्ता का मतलब है लोगों की समझ और प्राथमिकताओं से खेलते हुए उनके विचारों को अपने हिसाब से नियंत्रित करने की क्षमता।

एक अन्य समाजशास्त्री मानते हैं कि निर्णयों को प्रभावित करने में सत्ता की भूमिका तो होती है, पर सत्ता एक नहीं बल्कि कई केंद्रों में होती है। इस प्रक्रिया में जोर फैसले करने पर कम और दूसरों को फैसलों में शामिल होने से रोकने या किसी खास मत को व्यक्त होने से रोकने पर ज्यादा रहता है। सत्ता की इस भूमिका को समझने के लिए आवश्यक है कि स्थापित मूल्यों, राजनीतिक मिथकों, चलन और संस्थाओं के काम करने के तरीकों पर ध्यान दिया जाए। इनके जरिए किसी एक समूह का निहित स्वार्थ दूसरे समूहों पर हावी हो जाता है और कई मामलों में उन समूहों को अपनी बात कहने या निर्णय प्रक्रिया में हिस्सेदारी का मौका भी नहीं मिल पाता। अक्सर यथास्थिति के पैरोकार परिवर्तन की वकालत करने वालों को इन्हीं तरीकों से हाशिए पर धकेलते रहते हैं। उदार–लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रियाओं को अभिजनवादियों द्वारा ऐे फिल्टरों की की तरह देखा जाता है कि जिनके जरिए रैडिकल प्रवृतियां छंटती जाती है। सत्ता का तीसरा चेहरा यानी लोगों के विचारों को नियंत्रित करके अपनी बात मनवाने की प्रक्रिया लोगों की आवश्यकताओं को अपने हिसाब से तय करने की करामात पर निर्भर है। हरबर्ट मरक्यूज ने अपनी विख्यात रचना वन डायमेंशनल मैन (1964) में विश्लेषण किया है कि क्यों विकसित औद्योगिक समाजों को भी सर्व सत्तावादी की श्रेणी में रखना चाहिए। मरक्यूज के अनुसार हिटलर के नाजी जर्मनी में या स्टालिन के रूस में सत्ता के आतंक का प्रयोग करके सर्व सत्तावादी राज्य कायम किया गया था। परंतु औद्योगिक समाजों में यही काम आधुनिक प्रौद्योगिकी के जरिए बिना किसी प्रत्यक्ष क्रूरता के लोगों की आवश्यकताओं को बदल कर किया जाता है। ऐसे समाजों में टकराव ऊपर से नहीं दिखता, मगर इसका मतलब सत्ता के व्यापक वितरण में नहीं निकाला जा सकता। जिस समाज में विपक्ष और प्रतिरोध नहीं है, वहां माना जा सकता है कि मनोवैज्ञानिक नियंत्रण और जकड़बंदी के बारीक हथकंडों का इस्तेमाल हो रहा है।

सत्ता का राज्य या शासक वर्ग जैसा कोई एक केंद्र नहीं होता, बल्कि वह उसी तरह पूरी व्यवस्था में प्रवाहित होती रहती है, जिस तरह शरीर में धमनियों द्वारा रक्त प्रवाहित होता है। एक विशाल नौकरशाही तंत्र द्वारा अनगिनत तरीके अपना कर लोगों का वर्गीकरण किया जाता है। समाज को उत्तरोत्तर संगठित और समरूपीकृत करते हुए उन पर निगरानी के विभिन्न रूप थोपे जाते हैं। इस प्रक्रिया में लोग तरह–तरह की आत्मपरकताएं जज्ब कर लेते हैं। इस आत्मसातीकरण के माध्यम से व्यक्ति सत्ता को सामान्य ढंग से स्वीकार कर लेता है।

भारतीय समाज बहुत पुराना है और अत्यधिक जटिल भी है। प्रचलित अनुमान के अनुसार पांच हजार वर्ष पूर्व की पहली ज्ञात सभ्यता के समय से आज तक लगभग पांच हजार वर्षों की अवधि इस समाज में समाहित है। इस लंबी अवधि में विभिन्न प्रजातीय लक्षणों वाले और विविध भाषा–परिवारों के अप्रवासियों की कई लहरें यहां आकर इसकी आबादी में घुल मिल गईं और इसे समाज की विविधता, समृद्धि और जीवंतता में अपना–अपना योगदान दिया। दुनिया के अधिकतर प्रमुख धर्म हिंदू, इस्लाम, इसाई और बौद्ध यहां हैं और इनके साथ आस्था और कर्मकांड की दृष्टि से इतने अलग–अलग ढंग के संप्रदाय और पंथ भी यहां हैं। इन सबके साथ आधुनिक अकादमी अफसरशाही, औद्योगिक और वैज्ञानिक अभिजन को भी जोड़ दे ंतो हम देखते हैं कि एक रंग–बिरंगा परिदृश्य उपस्थित हो जाता है।

समाज में सत्ता संघर्ष एक शाश्वत और स्वाभाविक प्रक्रिया है। जहां भी मनुष्यों का समूह एक समाज बना कर रहने लगता है, वहां सत्ता का संघर्ष शुरू हो जाता है। यह संघर्ष कभी भी खूनी हो सकता है। इसे समझने और लोगों को हकीकत बताने के कर्त्तव्य में लीन मीडिया की भूमिका यहां महत्वपूर्ण हो जाती है। मीडिया की बात जेहन में आते ही अखबार और टीवी चैनल मानस पटल पर नाचने लगते हैं। इसके साथ ही सूचनाओं के संग्रह के लिए जद्दोजहद करते हाथ में कलम–नोटबुक पकड़े या कंधे पर कैमरा लादे पत्रकार याद आ जाते हैं। समाज के अधिकारों के लिए संघर्षरत मीडिया की जरूरत को सभी महसूस करते हैं, मगर उनके संघर्ष की तरफ कम लोगों का ही ध्यान जाता है। यद्यपि प्रेस या मीडिया को लोकतंत्र का चौथा खंभा माना जाता है, मगर जानकर आश्चर्य होगा कि भारतीय संविधान की मोटी पुस्तक में मीडिया का कहीं नाम नहीं है। सिर्फ प्रेस शब्द का उल्लेख है। संविधान में सिर्फ भाषण और अाीव्यक्ति की स्वाधीनता का जिक्र है (अनुच्छेद 19 (1)। हालांकि उप अनुच्छेद (2) के अंतर्गत यह अधिकार प्रतिबंध के अधीन है, जिसके तहत भारत की प्रमुखता एवं अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध शालीनता का संरक्षण, नैतिकता का संरक्षण, किसी अपराध के मामले में अदालत की अवमानना, मानहानि अथवा किसी अपराध के लिए उकसाना आदि कारणों से इस अधिकार को प्रतिबंधित किया गया। यद्यपि प्रेस या मीडिया में क्षमता कूट–कूट

कर भरी हुई है, मगर उसे रोकने के भी अनेक उपाय किए गए हैं। भारत में खासतौर पर मीडिया पर अंकुश लगाने के लिए कई तरह के कानूनों का प्रवर्तन किया गया। पोटा जैसे कानून लाए गए। भारी विरोध पर उसे निरस्त कर पुनः प्रतिस्थापित किया गया। दरअसल समाज और सत्ता के बीच संघर्ष में मीडिया की स्थिति 'जिमि दसनन महं जीभ बिचारी' वाली है। मीडिया पर बाजारवादी होना या उपभोक्तामुखी होने के आरोप भले ही लगते रहे, मगर हर तरह से असुरक्षित मीडिरूा के संरक्षण और उसके लोकोपकारी स्वभाव को बढ़ावा देने की बात कोई नहीं करता। समूचे देश में मीडिया की यही स्थिति है। देश के पूर्वोत्तर में तो मीडिया सभी के निशाने पर होता है। इन्हें उग्रवादी संगठनों के साथ–साथ सरकारी आतंक का भी सामना करना पड़ता है। वर्ष 1991 से असम में अब तक 24 पत्रकारों की हत्या हो चुकी है। वर्ष 1990 से मणिपुर में सात और त्रिपुरा में एक पत्रकार अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करते हुए मौत के शिकार बने। पूर्वोत्तर एक ऐसा क्षेत्र है, जहां पत्रकारों को दुधारी तलवार पर चलने का जोखिम उठाना पड़ता है। मगर इन सब पर कभी विमर्श नहीं होता।

समाज निर्माण, जातीय एकता और मीडिया *

#राकेश रेणु

मानवता के मूल में मनुष्य है। वही मनुष्य समाज के मूल में है। और, वही अधिकारों के मूल में भी है। मार्क्स कहते हैं कि 'मैन इज द रूट ऑफ मैनकाइंड। इसी तरह विज्ञान जीवों में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ मानता है। दर्शन भी इसी दृष्टि का हामी है। इसीलिए किसी भी समाज और सामाजिक व्यवस्था का अभिप्रेत अपनी इस मूल इकाई का मानसिक, आध्यात्मिक, आर्थिक–सामाजिक उत्कर्ष सुनिश्चित करना होता है और इसलिए, साहित्य, पत्रकारिता और मीडिया के लक्ष्य उससे अलग नहीं हो सकते।

अपने परिवेश, परिवार, समाज और संस्कृति की रचना मनुष्य स्वयं करता है। यह उसका दायित्व भी है और अभिष्ट भी। हजारों साल के मानव इतिहास में विश्व के अलग–अलग हिस्सों में हजारहां अलहदा भाषाएँ, संस्कृतियाँ और जातीय अस्मिताएँ विकसित हुईं। मानव विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के अनुसार इन संस्कृतियों की संख्या दुनियाभर में 5,000 से 10,000 के बीच कहीं हो सकती है। इसलिए हम जानते हैं कि जीवों में सर्वश्रेष्ठ यह मनुष्य समरूप और एकभाषी कतई नहीं है। उसमें विविधताएँ हैं, प्रचुर विविधताएँ हैं। स्वयं हमारा देश इन जातीय, सांस्कृतिक और भाषायी विविधताओं का पालना है। हम इस बात को लेकर गर्व करते हैं कि हमने इन विविधताओं को स्वीकार करते हुए उन्हें एकता के सूत्र में बांधे रखा है। आजाद हिन्दुस्तान में इस सूत्र को मजबूत करने का काम हमारे संविधान ने किया है जो भारत में पल–बढ़ रही विविध संस्कृतियों को स्वीकार करते हुए हमें एक नवीन जातीय पहचान देती है– भारतीयता की पहचान। इस संवैधानिक जातीयता का मकसद परंपरा से पोषित भाषिक, सांस्कृतिक, आंचलिक संस्कृति और जैविक जातीयता को विनष्ट करना नहीं, बल्कि उन्हें मजबूत बनाना, पुष्पित–पल्लवित होने के अवसर देना, साथ ही विश्रृंखल होने से बचाकर एक सूत्र में पिरोये रखना है। स्वतंत्र भारत में संविधान के इस लक्ष्य का निर्वाह प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का दायित्व होना चाहिए और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मीडिया इससे इतर नहीं, समाज के बीच, व्यावसायिक किन्तु, ऐसी ही एक सामाजिक व्यवस्था है। इस तरह मीडिया का यह दायित्व बनता है कि वह क्षेत्रीय घटनाओं में राष्ट्रीयता के सूत्र ढूँढे और राष्ट्रीय खबरों से आंचलिकता के तत्व भी पुष्ट करे और इस तरह भारतीयता की

---

*देवी अहिल्याबाई विश्वविद्यालय, इंदौर में आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेख। वर्ष : 2013

#कवि और मीडिया विशेषज्ञ। संप्रति : भारतीय सूचना सेवा से संबद्ध।

भावना को अधिकाधिक मजबूत करें। लेकिन क्या मीडिया ऐसा कर पा रही है? क्या आज के पत्रकारों की तैयारी ऐसी है जो उन्हें इस समावेशी दृष्टि से सम्पन्न बनाए?

जब मैं इस तरह के सवालों से रु–ब–रु होता हूँ तो मुझे बार–बार गांधी का, उनकी पत्रकारी दृष्टि का स्मरण हो आता है। हम जानते हैं कि गांधी राजनीतिक प्रयोजनों से देशभर की यात्रा करते रहते थे। वह जहाँ–जहाँ जाते पत्रकार की पैनी दृष्टि के साथ घटनाओं, चीजों का मूल्यांकन करते रहते। एक बार वह उत्तर प्रदेश के किसी स्टेशन से गुजर रहे थे। स्टेशन पर उन्होंने आवाज लगाते सुना– हिन्दू चाय, मुसलमान चाय। हिन्दू पानी, मुसलमान पानी। एक सप्ताह बाद उन्होंने अपने अखबार 'यंग इंडिया' में इस पर टिप्पणी की। उन्होंने सवाल उठाया कि रेलगाड़ी में तो सब एक साथ बैठते हैं, फिर चाय और पानी को लेकर भेदभाव क्यों? उन्होंने लिखा कि हमें जात–पात, धर्म, संप्रदाय के भेद मिटाने होंगे। गांधी जी ने लिखा कि रेलगाड़ी तो सबको जोड़ती है, मिलाती है। एक साथ मिल–बैठने, बात करने, भोजन करने का मौका देती है। फिर चाय–पानी को लकर यह भेदभाव क्यों? – इस तरह एक छोटी सी आंचलिक घटना को महात्मा ने राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्रदान कर दिया।

गांधी की पत्रकारिता की इस कसौटी पर अगर हम आज के पत्रकार और पत्रकारिता को कसें तो क्या पाते हैं? क्या वे आंचलिकता से राष्ट्रीयता को, भाषिक, सांस्कृतिक और जातीय एकता को मजबूत कर रहे हैं? आइये 'विश्व का सर्वाधिक पढ़ा जाने वाला अखबार' होने का दावा करने वाले 'दैनिक जागरण' के बीते छह सितम्बर, 2013 के दिल्ली संस्करण से इसका एक फौरी मूल्यांकन करें। (तिथि यह पर्चा लिखे जाने की तारीख इंगित करती है, यानि कि आकस्मिक चयन है, सोच समझ कर किए गए किसी दिन का चुनाव नहीं है।) परिशिष्ट सहित 28 पृष्ठों के इस अखबार में प्रायः 18 पृष्ठ विज्ञापन के हैं। समूचे अखबार में गाँव, किसान, मजदूर, दलितों से जुड़ी एक भी खबर शामिल नहीं है। पहले पन्ने पर पहली खबर ओलंपिक संघ के हवाले से खेल प्रबंधन में व्याप्त भ्रष्टाचार और उसकी वजह से उत्पन्न भारतीय खिलाड़ियों के ओलंपिक से बाहर रहने की आशंका को समर्पित है। बाकी खबरें बाजार, व्यापार, दुराचार, भ्रष्टाचार, अपराध, राजनीति और देश–विदेश की घटनाओं के बारे में है। अखबार के इस संस्करण में तीन पृष्ठ उत्तर प्रदेश को समर्पित हैं। लेकिन उनमें छपी एक भी खबर में प्रदेश की आंचलिक संवेदना महसूस नहीं की जा सकती। सभी खबरें, जैसा कि पहले कहा गया है, या तो राजनीति, भ्रष्टाचार, दुराचार और आपराधिक घटनाओं के बारे में हैं अथवा ऐसी फंतासी की रचना करती है जो पाठकों का किंचित मनोरंजन तो करती हैं किन्तु 'खबर' की कसौटी पर खरा नहीं उतरतीं। पहले पन्ने पर छपी एक खबर का शीर्षक है :– 'रघुराम की धुन पर बाजार हुआ मस्त'। यहाँ रघुराम, जैसाकि हम जानते हैं, रिज़र्व बैंक के नए प्रमुख का पहला या मूल नाम है। यह खबर यह स्थापना देती प्रतीत होती है कि नये

गवर्नर के आते ही बाजार यानी शेयर बाजार की स्थिति और प्रकारांतर से अर्थव्यवस्था की स्थिति सुधर जाएगी। पाठ के बीच अनकहा कथन यह भी छुपा है कि सेवानिवृत्त होने वाले गवर्नर के आते ही बाजार यानी शेयर बाजार की स्थिति और प्रकारांतर से अर्थव्यवस्था की स्थिति सुधर जाएगी। पाठ के बीच अनकहा कथन यह भी छुपा है कि सेवानिवृत्त होने वाले गवर्नर की वजह से ही बाजार में कमजोरी व्याप्त थी। अखबार इस धारणा को तोड़ने का कोई प्रयास नहीं करता कि किसी व्यक्ति के पदग्रहण करने मात्र से अर्थव्यवस्था में बदलाव आने की धारणा आधारहीन और बेमानी है। बदलाव नीतियों, कार्यक्रमों और उनके क्रियान्वयन से आते हैं न कि प्रभारी अधिकारी के बदलने से। दूसरे, अखबार यह धारणा तोड़ने का भी प्रयास नहीं करता कि शेयर बाजार का उतार–चढ़ाव अर्थव्यवस्था की मजबूती मापने का पैमाना कतई नहीं हो सकता, क्योंकि इसका संवेदनशील सूचकांक दुनियाभर में घटी घटना अथवा इसकी संभावना मात्र से प्रभावित होता है, घटता–बढ़ता रहता है। अनेक मर्तबा निवेशकों की अचानक मुनाफा वसूली की प्रवृत्ति भी इसके उतार–चढ़ाव का कारक बनती है। इसलिए अर्थव्यवस्था के स्तंभों की मजबूती या कमजोरी का द्योतक यह कतई नहीं हो सकता। तीसरे, अखबार यह भी रेखांकित नहीं करता कि रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया का काम मौद्रिक प्रबंधन करना है। देश की अर्थव्यवस्था का प्रबंधन नहीं। समूचे देश की अर्थव्यवस्था का दायरा काफी व्यापक है और उसका प्रबंधन नहीं। समूचे देश की अर्थव्यवस्था का दायरा काफी व्यापक है और उसका प्रबंधन काफी जटिल। उसको दिशा देने का मुख्य दायित्व केन्द्रीय वित्त मंत्रालय का है। लेकिन केवल वही यह काम करता हो यह भी सही नहीं है। अनेक अन्य मंत्रालय, केन्द्र के, राज्य सरकारों के, निजी और सार्वजनिक उत्पादन इकाइयां आदि सबका इस महती कार्य में प्रत्यक्ष–परोक्ष योगदान है।

इस तरह की स्थिति हिन्दी के प्रायः सभी अखबारों की है। खबरों के साथ अखबार ऐसी जरूरी जानकारियाँ बखूबी दे सकते हैं। लेकिन वे अनेक अन्य कारणों से ऐसा करते नहीं। वे अपने पाठकों के इर्दगिर्द खबरों के जरिए एक किस्म की फंतासी रचकर बस उन्हें मस्त–मस्त रखना चाहते हैं। इसलिए वे यह रेखांकित नहीं करते कि आर बी आई के निर्णयों से बैंक, वित्तीय संस्थान, सीमित मात्रा में शेयर सूचकांक और रुपये का मूल्य प्रभावित होते हैं जो देश की अर्थव्यवस्था का बाहरी, इसलिए प्रकट और छोटा अंग है। इस तरह टुकड़ों में परिघटित होने वाली छोटी–बड़ी घटनाओं का क्या राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय महत्व है, यह बताने में अखबार सफल नहीं हो पाते। न ही वे राष्ट्रीय स्तर पर लिए जाने वाले निर्णयों के स्थानीय या आंचलिक प्रभाव और संदर्भ को रेखांकित कर पाते हैं। अब ऐसी पत्रकारिता से सोचिए, किस अंचल, समाज और देश का भला होगा। कैसे अंचल देश को और देश आंचलिक समाजों को मजबूत करेगा।

समग्रता में देखें तो एक सर्वाधिक चिंताजनक बात जो उभर कर सामने आती है वह यह कि हमारी मीडिया– प्रिंट और इलेक्ट्रोनिक दोनों – आम पाठक या आम आदमी के पक्ष में खड़ी नहीं दिखाई देती। फिर वह किसके पक्ष में है? – वह खड़ी है बाजार के पक्ष में, खरीदार के पक्ष में, उसके पक्ष में जिसकी जेब भरी है, जो उपभोक्ता है, अथवा वह खड़ी है उत्पादक, विक्रेता और उनके बिचौलियों–आढ़तियों के पक्ष में। तभी अखबार के पन्नों और प्रसारित खबरों में विज्ञापन का बोलबाला है, वे खबरों के माथे पर बिंदी की तरह नहीं मुकुट के मानिंद सजाए जाते है। उन्हें तैयार करने में अत्यधिक ऊर्जा और धन खर्च किया जाता है। वे हमारे घरों में एक उत्पाद की जानकारी मात्र लेकर नहीं प्रवेश करते, पूरी जीवनशैली लेकर आते हैं और परंपरा और अर्जित ज्ञान से हासिल मूल्यों और जीवनशैली को नाकाफी और गैरजरूरी करार देते हैं। वे हमारे दिलो दिमाग में घर कर जाने की, बस जाने की चेष्टा करते हैं। अब अगर हमारे पास विवके है तो हम उसे अप्रासंगिक या बेजा हस्तक्षेप मान लेंगे, अगर विवके या तार्किक समझ कम और जेब में पैसे अधिक हैं तो वह जीवनशैली घर ले आएंगे जो माता–पिता तुल्य पुरानी जीवन शैली को अवांछित करार दे और अगर ये दोनों न हों तो कर्ज लें, उधारी करें और कर्जे के दुष्चक्र में फंसकर भौतिक इच्छा पूरी करें। और अगर यह भी न कर पाएं तो अपने भीतर इस बात को लेकर एक बेचैनी, छटपटाहट और नैराश्य भरने दें कि हम तो जीवन को गुलाबी बनाने वाले उत्पादों से वंचित हैं।

आज से लगभग ढाई दशक पहले प्रकाशित पंकज बिष्ट की कहानी 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते' निम्न–मध्यवर्गीय घरों में बाजार और विज्ञापन के प्रभाव को लेकर लिखी गई थी। तब तक बाजारवाद ने हमें पूरी तरह अपनी गिरफ्त में लिया भी न था। उसके आधार पर आज के व्यक्ति और समाज पर इनके प्रभाव का अंदाजा सहज ही जगाया जा सकता है। दुख होता है कहते हुए कि यह प्रभाव उत्पन्न करने के औजार हैं आज का मीडिया, अखबार, टीवी चैनल।

कहना यह चाहता हूँ कि गांधी और गांधीयुग की पत्रकारिता का बार–बार स्मरण करने के बावजूद इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि वह आज से प्रायः एक सदी पहले की पत्रकारिता थी जिसका आखिरी चरण अब से सात से आठ दशक पहले समाप्त हो गया। पत्रकारिता तब एक मिशन थी। मिशनरी पत्रकारिता के बाद के दशकों में पत्रकारिता की दरिया में कई सैलाब आए, कई तटबंध टूटे, तटों का स्वरूप बदला–बिगड़ा और आज जहां यह खड़ी है वहां से उसके पुराने मिशन को, उसके अंतिम लक्ष्य आम पाठक, आम आदमी के कल्याण या उनकी अधिकारिता को पहचानना बहुत ही मुश्किल हो गया है।

आज का पत्रकार, मीडियाकर्मी मुख्य रूप से कैरियरिस्ट है, आज मीडियाकर्म या तो व्यवसाय है या नौकरी। साथ ही आज के समाज की चुनौतियाँ और तकनीकियाँ बढ़ी

हैं। मीडियाकर्मी से अपेक्षा की जाती है कि वे इनकी गहरी और सूक्ष्म जानकारी रखें। लेकिन क्या ऐसी जानकारी, चुनौतियों से निबटने की तैयारी और घटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य देने की समझदारी हमारे मीडियाकर्मियों में है? अंग्रेजी के एक वरिष्ठ पत्रकार और अब मीडिया शिक्षक वी. गंगाधर अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं – एक प्रश्न के उत्तर में मीडिया स्नातक के अधिकांश छात्रों ने काफी अन्नान को श्रीलंका का एक व्यंजन बताया। एक दूसरे बैच के अधिकांश छात्रों ने कोर्स की किताबों के अलावा और कोई किताब नहीं पढ़ी थी। वह रेखांकित करते हैं कि मीडिया के क्षेत्र में अपना कैरियर या रोजगार चाहने वाले अधिकांश लोगों की तैयारी पूरी नहीं होती। इसलिए वह भारतीय प्रेस परिषद के अध्यक्ष जस्टिस मार्कंडेय काटजू की इस मांग का समर्थन करते हैं कि अन्य क्षेत्रों की तरह पत्रकारिता को अपना व्यवसाय बनाने वालों के लिए एक न्यूनतम योग्यता या प्रवेश परीक्षा होनी चाहिए जिससे यह परखा जा सके कोई व्यक्ति पत्रकारिता को अपना कैरियर बनाने के लिए तैयार है या नहीं। खबरों और घटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में रखने तथा बेजा 'हाइप' रचने और भावुकता के बजाय तर्क और विवके से काम लेने के लिए यह बहुत जरूरी है। आज के समय में यह और भी जरूरी हो गया है क्योंकि आज की मीडिया का स्वरूप पहले की तुलना में काफी चुनौतीपूर्ण और बहुआयामी है, पूर्व की भांति इकहरा नहीं। ऐसा मैं क्यों कह रहा हूँ – पहले की पत्रकारिता को इकहरा और आज की पत्रकारिता को जटिल – क्योंकि पहले प्रिंट पत्रकारिता के दौर में 'लाइव रिपोर्टिंग' नहीं होती थी, इसलिए संवाददाता की खबर अलग–अलग कई डेस्कों और अनुभवी संपादकों के नजर में गुजरती थी। उनकी त्रुटियों को दूर करने के लिए पर्याप्त समय और अवसर सुलभ होता था। आज चौबीस घंटे समाचार के दौर में यह सहूलियत नहीं है। इसलिए अगर रिपोर्टर की तैयारी पूरी नहीं है तो बलात्कार या छेड़छाड़ की शिकार लड़की से यह पूछा जाता रहेगा कि 'उस वक्त आपको कैसा लगा' या 'अभिताभ बच्चन ने खिचड़ी खाई' जैसी खबरें असंपादित, लाइव प्रसारित होती रहेंगी। इसलिए छोटे–छोटे स्वार्थों से ऊपर उठकर जस्टिस काटजू के प्रस्ताव से सहमत होने की सख्त जरूरत है। इससे न केवल पत्रकारिता का भला होगा जिन्हें समुचित खबरों और उनके सही विश्लेषण की अपेक्षा होती है। उन्हें वे खबरें मिल पाएंगी जो उनसे जुड़ी हैं और उनकी बेहतरी के लिए जरूरी हैं। वे खबरें नहीं जो बाजार, व्यापार और मालिकान की बेहतरी को समर्पित होती हैं और तभी आज की और भविष्य की मीडिया हमारी भारतीयता की, भारतीय एकता की रक्षा कर पाएगी, समाज निर्माण में अपना उचित, अपेक्षित योगदान कर पाएगी।

द्वितीय खण्ड – मीडिया

गांधी की पत्रकारिता के बरक्स आज की पत्रकारिता*

#राकेश रेणु

आज से प्रायः 108 साल पहले महात्मा ने दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सबर्ग से अपने पहले अखबार 'इंडियन ओपिनियन' का संपादन आरंभ किया। प्रवेशांक में ही उन्होंने बताया कि इसका मकसद "भारतीय समुदाय की इच्छाओं को अभिव्यक्त करना और उनके हितों के लिए काम करना है।" तब गोरे शासकों के दिल में वहां काम करने वाले अथवा व्यापार करने वाले भारतीयों के प्रति जो हिक़ारत का भाव था और जैसी दयनीय उनकी बस्तियों की हालत थी, उसे शासन तंत्र के सामने लाना, उनसे न्यायपूर्ण व्यवहार की मांग करना, इस साप्ताहिक अखबार का घोषित लक्ष्य था। अखबार का दूसरा बड़ा मकसद दक्षिण अफ्रीका में रहने वाले अलग–अलग जमातों, अलग–अलग काम–धंधा करने वाले लोगों को भारतीयता की एक पहचान देना और इस तरह उन्हें एक सूत्र में बांधना था। इसकी घोषणा करते हुए महात्मा का यह अखबार कहता है कि "हम तमिल या कलकत्ता वाले नहीं हैं, हम मुसलमान या हिन्दू नहीं हैं, हम ब्राह्मण और बनिया भी नहीं हैं बल्कि हम केवल और केवल ब्रिटिश भारतीय हैं। हमें साथ–साथ डूबना और साथ–साथ तैरना है।" इस पूंजीभूत और सहधर्मी पहचान के लिए ही उन्होंने अख़बार का नाम रखा – 'इंडियन ओपिनियन' और एक साथ चार भाषाओं में इसका प्रकाशन शुरू हुआ। वे भाषायें थीं – अंग्रेजी, हिन्दी, तमिल और गुजराती।

अपनी आत्मकथा 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' में गांधी पत्रकारिता के उद्‌देश्यों को इन शब्दों में बताते हैं। वह कहते हैं कि "समाचारपत्र का पहला मकसद लोगों की संवेदना को समझना और उसे अभिव्यक्त करना, दूसरा उनके भीतर जरूरी भावनाएं जगाना और तीसरा मकसद सार्वजनिक दोषों का निडर होकर पर्दाफाश करना होता है।" ये तीनों वही बातें हैं जिन्हें गांधी ने अपने पहले अखबार – 'इंडियन ओपिनियन' के प्रवेशांक में रेखांकित किया था।

'इंडियन ओपिनियन' के जरिये महात्मा का लक्ष्य जहाँ अंग्रेज शासकों को अश्वेत आबादी, खासकर भारतीय समुदाय की जरूरतों और इच्छाओं से अवगत कराना था, वहीं दूसरी ओर उनका ध्येय भारतीय समुदाय के लोगों को उनकी कमियाँ और कमजोरियाँ बताना भी था। इस साप्ताहिक के प्रवेशांक में वह यह भी रेखांकित करते हैं कि "हम यह मानने

*राजकोट, गुजरात के सौराष्ट्र विश्वविद्यालय में प्रस्तुत आलेख। फरवरी, वर्ष : 2013

#कवि और मीडिया विशेषज्ञ। संप्रति : भारतीय सूचना सेवा से संबद्ध।

को कतई तैयार नहीं कि यहाँ रहने वाले भारतीय लोगों की जो कमियाँ गिनाई जाती हैं, हममें वे कमियाँ नहीं हैं। जब कभी भी हमें उनकी गलती नज़र आएगी हम बेहिचक उन्हें बताएंगे और उन्हें दूर करने के तरीके भी सुझाएँगे।" कहना न होगा कि गांधी अपने अखबारों और लेखन के जरिए जीवनपर्यंत यह काम करते रहे। आज की पत्रकारिता और पत्रकार बिरादरी का बहुलांश जब अपनी कमियों–कमजोरियों की अनदेखी कर दूसरों के छिद्रान्वेषण में तल्लीन दिखाई देता है, तब गांधी की अपने भीतर झांकने की, आत्म–मूल्यांकन की यह प्रवृत्ति एक बेशकीमती पत्रकारी मूल्य बनकर उभरती है।

वस्तुतः गांधी गुजरी सदी के एक बेहद प्रभावशाली पत्रकार थे। एक ऐसे पत्रकार जिनके निर्भीक, सीधे और सरल शब्द करोड़ों लोगों के दिलों–दिमाग में सरलता से पैठ बना लेते थे और अपने विचारों से एकमेक कर लेते थे। उनकी पत्रकारिता उनकी 'आत्मा की आवाज़' थी। उन्होंने एक बार कहा कि हफ्ते अपने स्तंभों में मैं अपनी आत्मा उड़ेलता जाता था ताकि अपने सिद्धांतों और सत्याग्रह के अमल के बारे में बता पाऊँ। 2 जुलाई, 1925 को 'यंग इंडिया' में उन्होंने लिखा – "अपनी निष्ठा के प्रति ईमानदारी बरतते हुए मैं दुर्भावना या क्रोध भी नहीं लिख सकता। मैं निरर्थक नहीं लिख सकता। मैं केवल भावनाओं को भड़काने के लिए भी नहीं लिख सकता। लिखने के लिए विषय और शब्दों को चुनने में मैं हफ्तों तक जो संयम बरतता हूँ।"

अपने विचारों की प्रखरता और दृढ़ता तथा भाषा की सरलता और साफ़गोई की बदौलत गांधी एक सफल और पूर्णकालिक पत्रकार हो सकते थे, लेकिन हम जानते हैं कि वह केवल पत्रकार नहीं थे। पत्रकारिता उनके सामाजिक और राजनीतिक और राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपनाए गए अनेक उपकरणों में से एक जरूरी उपकरण था। वह कहते हैं कि "पत्रकारिता में मेरा क्षेत्र मात्र यहाँ तक सीमित है कि मैंने पत्रकारिता का व्यवसाय अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा करने में एक सहायक के रूप में चुना है।"

इसके बावजूद एक सहायक विधा अथवा उपकरण के तौर पर ही सही, चालीस सालों तक गांधी ने पत्रकारिता की ओर इस अवधि में छह समाचारपत्रों का संपादन किया। इनमें से 'इंडियन ओपिनियन', जैसा मैंने आंरभ में उल्लेख किया था, चार भाषाओं में प्रकाशित होता था। 'नवजीवन' पहले मासिक के रूप में गुजराती में प्रकाशित होता था, बाद में गांधीजी ने इसकी बारंबारता बढ़ाकर इसे साप्ताहिक कर दिया और हिन्दी में प्रकाशित करने लगे।

'इंडियन ओपिनियन' से लेकर गांधी की पत्रकारिता के आखिर तक की यात्रा पर अगर हम सरसरी निगाह भी डालें तो कुछ बातें एकदम साफ दिखाई पड़ती हैं – (1) वह जनभाषा की, लोगों की समझ में आने वाली और इस्तेमाल की जाने वाली भाषा की, ताकत को पहचानते थे। साथ ही वह दक्षिण अफ्रीका में समस्त भारतीय समुदाय को

एकजुट करना चाहते थे इसलिए उन्होंने 'इंडियन ओपिनियन' का प्रकाशन चार भाषाओं में किया। (2) अपनी बात वह अंग्रेज हुक्मरानों तक तथा बाहरी दुनिया तक पहुँच सकें इसलिए हर दौर में अंग्रेजी में एक अखबार अथवा संस्करण निकालते रहे। (3) हिन्दी को वह दक्षिण अफ्रीका में भी किया। लेकिन भारत लौटने और भारत भ्रमण के बाद उनके मन–मस्तिष्क में यह बात पुख्ता हो गई कि अखिल भारतीय कोई एक भाषा हो सकती है, तो वह हिन्दी ही हो सकती है। इसलिए अपनी मातृभाषा में निकलने वाले 'नवजीवन' को उन्होंने गुजराती के बदले हिन्दी में निकालना आरंभ कर दिया। यही नहीं उसकी बारंबारता भी चौगुनी, यानी महीने में एक के बजाय चार अंक, कर दी।

इसके बरक्स आज की पत्रकारिता पर, अखबारों और इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों पर, गौर करें। हम पाते हैं कि अखिल भारतीय किसी भाषा की इच्छा पत्रकार बिरादरी में आज प्रायः तिरोहित हो चुकी है। अंग्रेजी पढ़ने–समझने वाले लोग देशभर में भले दो प्रतिशत हों, लेकिन उसे अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित करने का प्रभुवर्गीय हठ बेशर्मी के साथ बढ़ता जा रहा है। भारतीय भाषाओं में हिन्दी को मित्रभाव से प्रायः नहीं देखा जाता है और वह प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है और तो और, हिन्दी की बोलियों में भी स्वयं को स्वतंत्र भाषा के रूप में स्थापित करने ओर हिन्दी को कमतर दिखाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। बड़े व्यापारिक घरानों द्वारा संचालित अखबारों और मीडिया में हिन्दी में अंग्रेजी के शब्द घुसाने, हिन्दी को हिंग्लीश बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। दूसरी ओर, सार्वाधिक प्रसार संख्या का दावा करने वाले समाचारपत्रों के सबसे ज्यादा स्थानीय संस्करण हैं। इनमें प्रायः हर जिले का पन्ना है जहाँ छपी खबर दूसरे जिले में नदारद होती है। यही हाल राज्यस्तर पर है। यानी गांधी की अखिल भारतीयता के स्थान पर क्षेत्रीयता और आंचलिकता आज सिरमौर बनी हुई है। आज एक राज्य पर क्षेत्रीयता और आंचलिकता आज सिरमौर बनी हुई है। आज एक राज्य अपने को विशेष राज्य का दर्जा देने की मांग करता है। संविधान में नागरिकों की तरह सभी राज्य भी बराबर हैं। लेकिन ऐसा ही नहीं है कि किसी राज्य को विशेष राज्य का दर्जा नहीं दिया जा सकता। किन्तु इसके लिए जरूरी स्थितियाँ और विशेष कारण वहां वर्णित हैं। उनकी अनदेखी कर अपनी दूसरी कमजोरियों से ध्यान बंटाने और राजनीतिक धार चढ़ाने के लिए कोई क्षेत्रीय पार्टी या उसकी सरकार इस तरह की माँग उठा सकती है, बल्कि उठाती है और उसे अभियान की तरह चलाती है। अखबार इस तरह की मांग के औचित्य और कारणों की पड़ताल कर सकते हैं और तर्क व तथ्य की कसौटी पर कस कर अपनी राय और विश्लेषण पेश कर सकते हैं। वे नीर–क्षीर विवके का इस्तेमाल कर पाठकों को वस्तुस्थिति से अवगत करा सकते हैं लेकिन वे ऐसा नहीं करते। उनके सामने विज्ञापन की बोटी है जिसे पाने के लिए वे काग–समाज की भांति एक सुर में कांव–कांव कर रहे होते हैं। विशेष राज्य के दर्जे की मांग करने वाले इस पिछड़े राज्य के विज्ञापन का सालाना बजट, आपको जानकर हैरत होगी, 350 करोड़ रुपये है। यानी

हर महीने लगभग 30 करोड़ रुपये। यह राशि राज्य के गिनती के अखबारों और चैनलों में बांटी जाती है। अब वेतनभोगी किस पत्रकार की हिम्मत कि करोड़ों की खैरात बांटने वाली सरकार के खिलाफ मुंह खोले।

गांधी वेतनभोगी पत्रकार नहीं थे। वह अपने अखबारों में कोई विज्ञापन नहीं प्रकाशित करते थे। अपने पाठकों से वह चंदे और दान की मांग जरूर करते थे, लेकिन शासन तंत्र से नहीं। इसलिए उनकी निष्ठा अपने पाठकों के प्रति थी, उस मकसद के प्रति थी जिसकी प्राप्ति का उपकरण उन्होंने पत्रकारिता को बनाया था। वह अंग्रेज लोगों के प्रति द्वेषभाव नहीं रखते थे, इस तथ्य को उन्होंने बार–बार रेखांकित किया है। फिर भी उनकी निष्ठा भारतीय समाज के प्रति थी। इसीलिए मात्र कुछ हजार की प्रसार संख्या वाले उनके अखबारों की प्रतीक्षा देशभर को और दुनियाभर को रहती थी। अंक आते ही समाचार एजेंसियां उनके लेखों को उसी दिन या अगले दिन एक साथ सभी समाचारपत्रों को प्रेषित कर देती थीं। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी अपनी पुस्तक 'गुजरात एंड इट्स लिटरेचर' में 'नवजीवन' के प्रभाव के बारे में बताते हैं कि ''संसार में किसी अन्य समाचारपत्र को इस प्रकार की लोकप्रियता और अपने क्षेत्र में इस प्रकार का महत्व नहीं प्राप्त हुआ होगा जितना इस छोटे, सरल समाचारपत्र को प्राप्त हुआ। हालांकि इस अखबार ने न तो कभी भड़काऊ खबर छापी और न ही कोई विज्ञापन प्रकाशित किया। अनेकानेक लोगों ने उपन्यास और पुराण आदि पढ़ना छोड़ इस अखबार को पढ़ना शुरू कर दिया था। इस साप्ताहिक की एक प्रति दूर–दराज में स्थित गांव के लिए इकलौती पत्रिका और पूरा जीवनदर्शन होती थी।''

मित्रो, गांधी बहुभाषी और बहुलतावादी भारतीय समाज की प्रकृति और उसकी संरचना को जानते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी पत्रकारिता का इस्तेमाल इस विविधता को एकता के सूत्र में बांधने के लिए किया। लेकिन आज क्या हो रहा है? भाषा को जाति और धर्म से जोड़कर पहचानने की कोशिश की जा रही है। हिन्दी का अखबार केवल हिन्दुओं के तीज–त्यौहार धार्मिक आयोजनों के बारे में छापेगा, अन्य प्रमुख धर्मों के अखबारों की हो सकती है, लेकिन उनके बारे में दावे के साथ कुछ बताने की स्थिति मेरी नहीं है। सवाल है कि समाचारपत्र घटनाओं की जानकारी देने के लिए होते हैं, न कि धर्म का प्रचार–प्रचार करने अथवा धर्म के आधार पर द्वेष फैलाने के लिए। 1942 में एक प्रश्न का जवाब देते हुए गांधी ने कहा, "मैं चाहता हूँ कि भारतीय प्रेस (या पत्रकार) वे काम न करें जो उनकी अंतरात्मा की आवाज़ के विरूद्ध हों। राष्ट्रीय संस्थाओं और नीतियों की ईमानदारी से आलोचना करने से राष्ट्रीय हित को कभी नुकसान नहीं होगा। लेकिन सांप्रदायिक उन्माद भड़काने वाली खबरों के प्रति सावधान रहना है। यदि भावी आंदोलन से ..... लोगों के साथ सांप्रदायिक सद्भावना तथा शांति स्थापित नहीं हो पाती है, तो इस आंदोलन का कोई अर्थ नहीं होगा।"

लेकिन आज हम क्या देखते हैं? मौका मिलते ही अखबार भावनाएं भड़काने वाले, विद्वेष फैलाने वाले समाचार छापना शुरू कर देते हैं अथवा उस दिशा में मोड़ देते हैं। हाल ही की एक घटना का हवाला दूँ। मुंबई हमले के मुख्य आरोपी अजमल कसाब को फांसी की सजा दी गई। सुप्रीम कोर्ट ने उसे सजा दी थी। घृणित आतंक की यह न्यायिक परिणति थी। लेकिन उसे मृत्युदंड देने के बाद कुछ इलाकों में जिस किस्म की प्रतिक्रिया हुई, लोगों ने जो उल्लास मनाया और अखबारों ने, मीडिया ने जिस तरह की कबरेज़ उसे दी, क्या गांधी उसे स्वीकार करते? क्या गांधी की पत्रकारिता उसे स्वीकार करती? क्या पत्रकारिता के मानदंडों के वह अनुकूल था? शायद नहीं। क्योंकि इस तरह से खबरों को मोड़ देने से वे एक बृहत्तर भारतीय समाज को आहत कर सकती हैं, विद्वेष फैला सकती हैं। लगभग ऐसी ही स्थिति अफ़जल गुरू को फांसी देने के बाद पैदा हुई। अखबार और मीडिया यह सवाल नहीं उठाते कि पैंसठ सालों की आजादी के बाद भी हम यह स्थिति क्यों नहीं बना पाए कि आतंकी घटनाएं हों ही नहीं? हमारा खुफिया और सुरक्षा तंत्र क्यों लचर है? हमारी पुलिस व्यवस्था क्यों एक पूरी कौम को अपराधी और आतंकी माने बैठी है? ये सवाल पूछने के बदले वे भावनाएं भड़काने और लोगों को उकसाने का काम रहे हैं। हम गांधी की बात कर रहे हैं। गांधी क्या मृत्युदंड के प्रावधान को स्वीकार कर लेते? क्या जान लेने के अलावा अपराधी को सजा देने का कोई और रास्ता नहीं है? क्या जान ले लेने मात्र से अपराध खत्म हो जाता है? दुनियाभर में आज मृत्युदंड की व्यवस्था को खत्म किया जा रहा है। लेकिन गांधी का देश इसे समाप्त करने से इंकार कर देता है, संयुक्त राष्ट्र में इसके खिलाफ प्रस्ताव लाने वालों के साथ खड़ा होने से मना कर देता है। गांधी की पत्रकारिता निश्चित रूप से इसके खिलाफ होती।

1942 में महात्मा से किए गए जिस सवाल के जवाब का अंश मैंने थोड़ी देर पहले उद्धृत किया था, उसी जवाब में महात्मा ने कहा था, ”इसकी (यानी कि प्रेस की) अंतिम परीक्षा अभी होनी है। मुझे विश्वास है कि प्रेस निर्भिकतापूर्वक राष्ट्रीय उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करेगा। दमन की भावना के साथ अखबार निकालने से अच्छा है कि उन्हें निकाला ही न जाए।“ फिर थोड़ा ठहर कर आगे वह जोड़ते हैं कि ”प्रेस राष्ट्रीय हित को अपने दिलों में संजोने वाले लोगों को ...... हिंसा का सहारा लेने के ख़तरों के प्रति चेतावनी देगा। हिंसा से लक्ष्य की ओर बढ़ने में बाधा उत्पन्न होगी।“

मीडिया का यथार्थ और मानव अधिकार*

#राकेश रेणु

फिल्म 'पीपली लाइव' आप लोगों ने देखी होगी। नहीं देखी तो देख डालिए। इस फिल्म के उल्लेख का प्रकट प्रयोजन है। इस फिल्म में टीवी समाचार चैनलों की बाबत जो भी दिखाया गया है, वह बिल्कुल वही है जो हम रोज–ब–रोज अपने टेलीविजन सेटों पर देखते हैं। फर्क केवल इतना है कि प्रसारित होने वाले समाचार से पहले और बाद की घटनाओं को भी यहाँ जोड़ दिया गया है, जिससे समाचार संकलन की मंशा, उसका खोखलापन और तथाकथित ब्रेकिंग न्यूज की आपाधापी से जुड़ा विद्रूप खुलकर सामने आ गया। समाचार संकलन से जुडा हर पात्र चाहे वह समाचार प्रस्तोता हो, इनपुट एडीटर हो, संवाददाता हो या कैमरामैन; अपनी दृष्टिहीनता, स्पर्धा और आपाधापी की वजह से यहाँ विदूषक जैसी हरकतें करता नजर आता है। यह फिल्म टेलीविजन समाचार चैनलों की विश्वसनीयता पर सवाल खड़े करती है। लेकिन यह कहना भी शायद ठीक नहीं क्योंकि विश्वसनीयता पर सवाल फिल्म नहीं, स्वयं टेलीविजन चैनल खड़े कर रहे हैं। वे सनसनीखेज पत्रकारिता कर रहे हैं, सरकार द्वारा जारी रिपोर्टों और पुलिस एफ आई आर को आधार बना खोजी खबरें पेश करने का दावा कर रहे हैं। आप देख सकते हैं कि ज्यादातर मामलों में खुद एंकरों और समाचार संपादकों की अपनी तैयारी पूरी नहीं होती। मामले की जटिलता को या तो वे समझ नहीं पाते अथवा उससे अनजान होते हैं। विषय को सरल बनाने के प्रयास में वे जटिल और संश्लिस्ट को निरर्थक मान बैठते हैं। विषय की उनकी जानकारी उतनी ही होती है जितना उनको लिखकर दे दिया जाता है। वे अपने विवेक और पेशेवर कौशल का इस्तेमाल कर गहराई में जाकर तथ्यों की छानबीन नहीं करते। रहस्योद्‌घाटन के नाम पर वे अप्रासंगिक अथवा अधूरे तथ्यों को उठाते हैं और उसी का ढिंढोरा पीटते हैं।

मेरे इस कथन को रोजाना प्रसारित होने वाली खबरों से पुष्ट किया जा सकता है। यहाँ मैं पिछले महीनों में प्रसारित दो साक्षात्कारों के उदाहरण देना चाहूँगा। बीते 19 नवंबर, 2010 को 'टाइम्स नाउ' के समाचार प्रस्तोता अर्नब गोस्वामी और अभी जनवरी के उत्तरार्ध में 'सीएनएन आईबीएन' के राजदीप सरदेसाई ने दूरसंचार मंत्री कपिल सिब्बल का साक्षात्कार लिया। दोनों ही साक्षात्कारों में प्रस्तोताओं को केन्द्रीय मंत्री ने किस प्रकार धोया और उनके खोखलेपन को बेनकाब किया, यह देखने लायक था। दोनों ही मामलों

*पुदुचेरी में आयोजित संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख। फरवरी, वर्ष : 2011

#कवि और मीडिया विशेषज्ञ। संप्रति : भारतीय सूचना सेवा से संबद्ध।

में प्रकट था कि समाचार संपादकों अथवा प्रस्तोता के पास सत्य का एक छोटा सा टुकड़ा है, जिसे वे महान सत्य बनाकर पेश कर रहे हैं। दरअसल समाचार चैनलों का काम निरपेक्ष रहकर समाचार देना है, मीडिया ट्रायल करना या फौरी निर्णय देना नहीं। यह काम कानून का है और कानून की अपनी प्रक्रिया और गति होती है। सवाल इस प्रक्रिया और गति पर भी खड़े किए जा सकते हैं लेकिन उनका विस्थापन कर खुद न्यायाधीश नहीं बना जा सकता। क्योंकि न्यायाधीश बनने की तैयारी और योग्यता अलग होती है तथा पत्रकार बनने की तैयारी और योग्यता अलग टीवी पत्रकारों सहित सभी पत्रकार वर्किंग जर्नलिस्ट एक्ट द्वारा प्रशासित होते हैं और उनसे उसी के नियमों–विनियमों के अंतर्गत काम करने की अपेक्षा होती है। लेकिन प्रायः वे ऐसा नहीं करते और खोजी पत्रकारिता के नाम पर प्रोपेगेंडा के उपकरण बन जाते हैं। वे खबर नहीं पेश कर रहे होते, बल्कि अपराध रिपोर्डिंग के घटिया हथकंडे अपनाकर व्यक्तियों और संगठनों को निशाना बना उसके खिलाफ दुष्प्रचार कर रहे होते हैं। तथाकथित पब्लिक परसेप्शन के नाम पर समाचार चैनल किसी व्यक्ति अथवा मुद्दे को लेकर खबर उछालते हैं और फिर तत्काल कार्रवाई की मांग करते हैं। रीयल टाइम मीडिया संचार के दबाव में समाचार की, हकीकत की और न्याय की ऐसी–तैसी हो जाती है। इस तरह की अनेक घटनाएँ हमारी निगाह के सामने घट रही हैं। मसलन, कुछ समय पूर्व दिल्ली के एक विद्यालय की शिक्षिका पर एक समाचार चैनल की घटिया खोजी खबर के द्वारा जिस असत्य का दुष्प्रचार और प्रसार किया गया। उसके परिणामस्वरूप शिक्षिका के खिलाफ जनसैलाब उमड़ पड़ा और उसे सार्वजनिक रूप से प्रताड़ित किया गया। रीयल टाइम टीवी रिपोर्ट के दबाव में राज्य सरकार ने शिक्षिका की सेवाएँ समाप्त कर दी। लेकिन बाद में पता चला कि वह पूरी की पूरी खबर मनगढ़ंत थी और टीचर के खिलाफ साजिश का नतीजा थी। सच का खुलासा होने पर उसकी खोई नौकरी तो वापस मिल गई, लेकिन खोई प्रतिष्ठा का क्या? किसी भी समाचार चैनल ने क्या यह जानने की कोशिश की कि इस घटना के बाद वह महिला किस हाल में है? बताता चलूँ कि अब तक वह कोई काम करने की स्थिति में नहीं है और मानसिक रोगी की भाँति अपना उपचार करा रही है।

इस तरह के मामलों में रीयल टाइम टेलीविजन संचार के दबाव में फैसले लिए गए, जिससे सत्य की मौत हुई और पीड़ितों के अधिकारों का हनन हुआ। दरअसल टीवी की नतीजा निकालने और फैसले देने की जल्दीबाजी के गंभीर परिणाम हो रहे हैं। इसके दबाव में संसदीय प्रक्रिया और संसद दोनों ही दाँव पर लगे हैं। राजनीतिक दलों ने संसद में काम करना ठप्प कर दिया है। वे लोगों के बीच जाकर आंदोलन खड़ा करने में लगने वाली मेहनत और खर्चे से बचते हुए वचुअल प्रतिरोध कर रहे हैं। टीवी समाचार चैनल उनके औचार बने हुए हैं, जिनके वातानुकूलित कक्ष में बैठ, वे बाहर की तीखी धूप से बचते हुए, उनकी तपिश से तिलमिलाए बगैर अपना आंदोलन चला रहे हैं। इन सबसे सत्य की

क्षति हो रही है लोकतांत्रिक व्यवस्था की क्षति हो रही है, मानव मूल्यों की क्षति हो रही है और मानव अधिकारों की क्षति हो रही है। इनसे जीवन, आजीविका, निजी जीवन में गोपनीयता, सच्चाई जानने का अधिकार आदि – सब प्रभावित हो रहे हैं। यानी समाचार चैनल मानवाधिकारों की रक्षा का उपक्रम करते–करते उनके हनन का उपकरण बनते जा रहे हैं।

इन सबका एक बड़ा लाभ मुद्रित समाचार माध्यमों को हो रहा है। दो दशक पहले जब निजी टेलीविजन चैनलों द्वारा समाचार प्रसारण की शुरूआत हुई थी तो समूचा प्रिंट जगत आशंकित था। आशंका व्यक्त की जाने लगी थी कि अब समाचार पत्र–पत्रिकाओं सहित मुद्रण व्यवसाय का अवसान हो जाएगा। आपाधापी में अखबारों ने अपने स्वभाव और स्वरूप में कई परिवर्तन किए। एक–एक कर सभी अखबारों के पन्ने रंगीन हो गए, सनसनी और चटपटापन उन्होंने टेलीविजन समाचारों के फॉर्मेट से आयात किए, अधिकाधिक पाठकों तक पहुँच बनाने के लिए समाचारों का स्थानीयकरण किया गया जिसके फलस्वरूप छोटी–छोटी जगहों से अखबारों के स्थानीय संस्करण निकलने लगे। कुछ परिवर्तन उनके प्रबंधन में भी किए गए और नियमित पत्रकारों–संवाददाताओं की जगह ठेके पर पत्रकार रखने की प्रवृत्ति अपनाई जाने लगी। अनेक वरिष्ठ पत्रकारों को सेवानिवृत्ति लेने को कहा गया ताकि अखबारों के खर्चे कम किए जा सकें। इन उपायों का अखबारों के समग्र स्वरूप और गुणवत्ता पर धनात्मक और ऋणात्मक दोनों प्रभाव पड़ा। लेकिन कुल मिलाकर टेलीविजन समाचारों की तुलना में अखबारों की गुणवत्ता और विश्वसनीयता न केवल बरकरार रही, बल्कि बढ़ी ही। आशंका के विपरीत हिन्दी और भाषायी अखबारों के प्रसार में आशातीत वृद्धि हुई। पिछले अनेक सालों के नेशनल रीडरशिप सर्वे के आँकड़े उठाकर देखें तो पता चलता है कि देश के दस सर्वाधिक प्रसार संख्या वाले समाचार पत्रों में हिन्दी और भाषायी अखबारों का वर्चस्व है। अंग्रेजी अखबार कहीं पीछे छूट गए हैं। कुछ समय पहले बीबीसी और अंतरराष्ट्रीय समाचार एजेंसी 'रायटर्स' ने दुनिया के दस चुनिंदा देशों में एक सर्वेक्षण किया जिसमें भारतीय लोगों ने बताया कि वे सबसे ज्यादा राष्ट्रीय और क्षेत्रीय समाचार पत्रों पर तथा उसके बाद सार्वजनिक रेडियो सेवा 'आकाशवाणी' पर भरोसा करते हैं। टीवी चैनलों पर उनका भरोसा इनके बाद ही है।

दुनियाभर में ऐसा शायद ही कहीं हुआ हो कि टीवी समाचारों के आने के बाद अखबारों की प्रसार संख्या में तेजी से इज़ाफा हुआ। दूसरे देशों में तो टीवी समाचारों और इंटरनेट के आने के बाद अखबारों की प्रसार संख्या चिंताजनक रूप से गिरी ही है। समाचार पत्र बंद हो गए हैं अथवा इंटरनेट संस्करणों में तब्दील हो गए हैं। लेकिन भारत में ऐसा नहीं है। यहां भाषायी प्रिंट माध्यम लगातार आगे बाढ़ रहा है। टेलीविजन, इंटरनेट और मोबाइल के जरिये प्राप्त अधूरे और एकांगी समाचार लोकतांत्रिक व राजनीतिक

चेतना संपन्न लोगों की सम्यक, संतुलित और संपूर्ण खबर की भूख बढ़ा रहे हैं। यह भूख मिटा पा रहे हैं अखबार।

वस्तुतः हिन्दी और भाषायी अखबारों का हालिया इतिहास अभिभूत करने वाला है। अखबारों को स्थानीयकरण मिली है लेकिन इससे उनकी राष्ट्रीय चेतना कमजोर नहीं हुई है। वे जितना अपनी क्षेत्रीय और भाषायी अस्मिता पर गर्व करते हैं उतना ही राष्ट्रीय अस्मिता पर भी। तेजी से बढ़ रहे ये अखबार अपने पाठकों से, बृहत्तर जनसमुदाय से गहरे जुड़े हुए हैं। इसलिए यह देखना दिलचस्प होगा कि विभिन्न तबकों के अधिकार रक्षण और संवर्धन में उनकी भूमिका कैसी है। मानव अधिकारों में सबसे पहले जीवन के लिए अपरिहार्य आजीविका के अधिकार की बात कर ली जाए। आज से पांच साल पहले भारत के बृहत्तर वंचित जनसमुदाय को वर्ष में सौ दिन रोजगार उलब्ध कराने के ध्येय से महत्वाकांक्षी महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गांरटी कार्यक्रम की शुरूआत की गई। शुरूआती दिनों में टेलीविजन की तरह ही प्रिंट माध्यम की प्रतिक्रिया भी इसके प्रति कतई स्तुत्य नहीं थी। मुख्यधारा के अनेक अखबारों ने इसे एक निरर्थक और विकास की गति रोकने वाला कदम बताया। वे रोजगार क अधिकार को ही स्वीकार करने को तत्पर नहीं थे। हर साल सालाना बजट में इस मद में घोषित या बढ़ाई गई राशि का स्वागत भी प्रायः बेमन से ही किया जाता रहा है। लेकिन इस एक राष्ट्रीय कार्यक्रम ने जिस तरीके से देशभर के वंचित तबकों और बीपीएल परिवारों को संबल और शक्ति प्रदान की है। उसकी कभी मुक्त, कभी दबे स्वर में, प्रशंसा भी आगे चलकर इन्हीं अखबारों ने की। उन्होंने अपने अंचल में इस कार्यक्रम के अमल में हो रही गड़बड़ियों को भी उजागर किया जिससे सरकार को कमियाँ दूर करने में सहूलियत हुई।

लेकिन यह प्रवृत्ति सभी समाचार पत्रों की है, अथवा सभी समान रूप से जनोन्मुखी और सवर्तोमुखी भावना से ओत प्रोत हैं, ऐसा नहीं है। कुछ गिनती के अखबार ही वास्तविक विकास को रेखांकित करते और सराहते है। ज्यादातर की स्थिति इनसे उलट है। दरअसल, इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट दोनो ही माध्यमों में समूचा मीडिया एक नव उदारवादी संस्था बन चुका है। एक ऐसी संस्था जो नव उदारवादी सिद्धांतों से चलती है, नवउदारवादी आर्थिक सिद्धांतों की वकालत करती है और नवउदारवादी हितों के मुताबिक समाचार, विश्लेषण और चर्चाएं प्रस्तुत करती है। इसलिए वर्तमान में प्रस्तावित खाद्य विधेयक की जब भी बात होती है तो मौजूदा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की कमियां गिनाई जाने लगती है। पिछले डेढ़ दशक में देशभर में दो लाख से ऊपर किसानों ने आत्महत्या कर ली। उनकी आत्महत्या की प्रायः हर खबर अखबारों के पन्नों पर साया होती रही है। लेकिन जब उसके कारणों — मसलन बैंकों द्वारा आसानी से और कम ब्याज पर कर्ज न देने, महाजनों का शोषण रोकने की बात आती है तो अखबार चुप रहते हैं। कृषि के जरूरी उपकरण—खाद, बीज, किसानी के औजारों पर सब्सिडी देने के हर

प्रस्ताव की यही अखबार छीछालेदर करते नहीं धकते। पाँचवें–छठे दशक का वह दौर और था जब तमिल अखबार 'दिनमणि' के तब के संपादक ए. एन. शिवरमण की भांति अधिकांश भाषायी अखबारों में खेती से जुड़े विभिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। तब अधिकांश भाषायी अखबारों में खेती और खेती हर लोगों के लिए पर्याप्त जगह थी। लेकिन कह चुका हैं कि तब से लेकर अब तक गुजरी आधी सदी में अखबारों का चरित्र और स्वरूप सिरे से बदल चुका है और खेती और खेतीहरों के खुरदुरेपन की जगह सुचिक्कन विदेशी बालाओं की खुली काया की छवियों ने ले ली है। आज निर्धन और जरूरतमंद खेतीहरों को दिया गया हर ऋण न केवल बैंकों को बल्कि अखबारों को भी डूबा हुआ नजर आता है। इसी तरह सब्सिडी अनेक नवउदारवादी अर्थशास्त्रियों, अखबारों और उन्हें चलाने वाले कॉरपोरेट घरानों के लिए तत्काल त्याज्य उपकरण है। वस्तुतः ज्यादातर अखबार उन्हीं नीतियों की वकालत करते हैं जो मालिकान के वर्ग चरित्र और हितों के अनुकूल होती हैं। अक्सर वंचित तबकों के अनुकूल नीतियां और प्रस्ताव या तो दबा दिए जाते हैं अथवा 'विकास विरोधी' विशेषणों के साथ इलेक्ट्रोनिक और प्रिंट दोनों ही मीडिया उनके खिलाफ आक्रमण शुरू कर देती हैं।

लेकिन रेखांकित करना होगा कि इन्हीं क्षेत्रीय और स्थानीय संस्करण वाले भाषायी अखबारों ने पंचायतीराज व्यवस्था को सशक्त बनाने वाले प्रयासों और पंचायतों के जरिये दलितों, स्त्रियों तथा वंचितों को अधिकार संपन्न बनाने की कोशिशों को भरपूर समर्थन भी दिया है और इस प्रक्रिया में स्थानीय स्तर पर हो रही गड़बड़ियों का भी खुलासा किया है। दरअसल, पंचायती व्यवस्था और ग्रामीणों का राजनीतिक सशक्तीकरण अखबारी मालिकान के आर्थिक हितों से सीधे–सीधे नहीं टकराते, उनसे जुड़ी खबरों की कवरेज से स्थानीय संस्करणों की पैठ गांवों में और गहरी होती है, इसलिए उनकी कवरेज पर रोक नहीं लगाई जाती। जाने–अनजाने इससे वंचित तबकों की अधिकारिता को मजबूती मिली है।

मित्रों, हाल के महीनों में स्वास्थ्य संबंधी दो रिपोर्टें सामने आई हैं। पहली है विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जारी वर्ल्ड हेल्थ रिपोर्ट 2010 और दूसरी भारत सरकार के स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय की वार्षिक जनस्वास्थ्य रिपोर्ट, 2010। इन दोनों ने स्वास्थ्य के अधिकार और सबके लिए स्वास्थ्य सेवा की जरूरत के अधिकार और सबके लिए स्वास्थ्य सेवा की जरूरत से जुड़ी बहस को पुनर्जीवित कर दिया है। याद दिलाना चाहूँगा कि कुछ साल पहले 'शाइनिंग इंडिया' की संकल्पना के अनुरूप देशभर के बड़े नगरों में सितारा निजी अस्पतालों का धमाकेदार आगमन आरंभ हुआ। इन मल्टी डिसिप्लिन अस्पतालों को सरकार से अनेक प्रकार की रियायतें मिलीं। शीघ्र ही इन्हें मेडिकल टूरिज्म के संवर्धन के लिए भी आवश्यक मान लिया गया। सरकारी तंत्र में, और इसके बाहर भी कहा गया कि अब सस्ती और विशेषज्ञ चिकित्सा सेवाएं अधिकाधिक लोगों को सुलभ

होंगी। अखबारों को मिलने वाले बड़े–बड़े विज्ञापन भी इस मान्यता को स्वीकृति दिलाने में कारगर रहे। लेकिन अब हम यह सवाल पूछ सकते हैं कि गरीब–गुरबों को मिलने वाली सस्ती, सुलभ और गुणवत्तायुक्त चिकित्सा सेवाओं की उपलब्धता में इन अस्पतालों से कितना फ़र्क आया था कितना सुधार हुआ? अखबारों को यह सवाल जरूर उठाना चाहिए कि कल्याणकारी समाज व्यवस्था में सबके स्वास्थ्य रक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करने की दिशा में, उस पर अमल करने की दिशा में, क्या किया जा रहा है?

मानवाधिकारों की रक्षा और टीआरपी बढ़ाने की होड़*

#डॉ. कुंजन आचार्य

मानवाधिकार शब्द का असल परिचय मेरा तब हुआ जब मैं 1994 में पत्रकारिता में आया। मैंने इस को हूयूमन इंटरेस्ट की खबरों के तौर पर समझा। हम इस का इस्तेमाल वहां करते थे जहां मानवीय रुचि से जुडी स्टोरीज करनी होती थी और पाठकों को इसके प्रति सजग करना होता था। इसके बाद पूरे 15 सालों तक यह मेरा पसन्दीदा विषय रहा और इस पर मैंने कई स्टोरीज की।

नए दौर में मानवाधिकारो की अवधारणा और परिदृश्य दोनो ही बदल गए हैं। अब इसका दायरा बढ गया है और आम लोगों में भी इसके प्रति जागरुकता बढी है। कहीं ना कहीं इसके पीछे संचार के साधनों और मीडिया के फैलाव की भी सकारात्मक भूमिका रही है। साल 2008 मानवाधिकरों के लिहाज से से एक महत्वपूर्ण वर्ष रहा कयोंकि यही वह वर्ष था जब पूरी दुनिया ने मानवाधिकरों की उद्घोषणा के 6 दशक पूरे किए।

मानव अपने अधिकारों के प्रति तभी सजग हो सकता है जब उसे अपने अधिकारों के बारे में ज्ञान हो। इन अधिकारों को बताने में ओर आम आदमी को इनके बारे मे जागरुक बनाने में मीडिया ने निसन्देह महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। मानव अधिकरों के लिए देश दुनिया में चल रहे संघर्ष और आन्दोलनों की जानकारी भी मीडिया के जरिए ही आम आदमी तक पहुंची और इस संघर्ष को मजबूती मिली। देश के उत्तर पूर्वी राज्यों में सेना की मौजूदगी और उनके अत्याचारों के खिलाफ पिछले एक दशक से भूख हडताल कर रही इरोम शर्मिला को कोई जानता तक ना था। इतने साल मीडिया ने उसको तवौज्जो ना दी। लेकिन पिछले दो सालों में जब इलेक्ट्रोनिक मीडिया ने इस मामले को उठाया तो अन्य चैनलों ओर अखबारों में भी यह खबर आई और बाकी दुनिया को इरोम शर्मिला के बारे में पता चला।

आज वैश्वीकरण का दौर है। दुनिया पूरी तरह से ग्लोबल हो गई है। सूचना क्रान्ति का युग है। नई सदी का नया जुमला भी यही है कि यदि आप ताकतवर बनना चाहते है तो किसी हथियार की जरुरत नहीं है आप केवल सूचनाओं से लैस हो जाईए। सूचना आज शक्ति का स्रोत बन कर उभरा है और इसे कतई नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। मीडिया सूचनाओं का संवाहक है। देश दुनिया के किसी भी कोने में होने वाली

---

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (उदयपुर) में पढ़ा गया आलेख

#असिस्टेंट प्रोफेसर,पत्रकारिता विभाग,सुखाडिया विश्वविद्यालय,उदयपुर।

हलचल की सूचना पलक झपकते ही आप के पास पहुंच जाती है। इसी शक्ति के बल पर मीडिया भी शक्तिशाली और ताकतवर बन कर उभरा है। अखबारों को गम्भीर और विश्वसनीय माध्यम माना जाता रहा है लेकिन टेलीविजन अधिक लोकप्रिय है। अखबार के साथ पढने की सीमा जुडी है। अनपढ़ व्यक्ति अखबार नही पढ़ सकता लेकिन टीवी देख कर और खबरों को सुन कर वह अपनी राय बना सकता है। टीआरपी सीधे सीधे टीवी से जुडा शब्द है जो मौजूदा दौर मे पत्रकारिता का सबसे खतरनाक शब्द है। यहां मैं खतरनाक शब्द का इस्तेमाल इसलिए कर रहा हूं क्योंकि हर सप्ताह आने वाली रेटिंग टीवी चैनल की लोकप्रियता का मापन करती है। इसी लोकप्रियता पर चैनल का दारोमदार टिका रहता है। हर शुक्रवार को चैनल में रेटिंग बढने पर जश्न मनाया जाता है तो सम्भव है अगले ही सप्ताह उस चैनल की रेटिंग गिर जाए और न्यूज रुम मे मातम छा जाए। ऐसा भी हो सकता कि सम्पादकीय कर्मचारियों को प्रबन्धन के गुस्से का शिकार होना पडे। दरअसल टीआरपी का खेल बाजार का खेल है। विज्ञापनों की पूरी दुनिया इसी टीआरपी के इर्द गिर्द खेलती दिखाई पडती है। अपने चैनल की रेटिंग बढाने के लिए और दर्शकों को लुभाने के लिए चैनल हर प्रकार के हथकंडो का इस्तेमाल करते है। और इसी पूरी प्रकिग्रा का सबसे दुखद पहलु यह है कि इस रेटिंग की चूहा दौड में असली खबरें पीछे छूट जाती है। महाराष्ट्र में कर्जदार किसानों की आत्महत्या पर मीडिया कोई प्रतिक्रया नहीं दिखाता लेकिन ऐश्वर्य राय और अभिषेकएकरीना और सैफ अली खान की शादी में बेगानी शादी में अब्दुल्ला दिवाना की तरह बौरा जाता है। कारण केवल यही है कि सेलिब्रटी की शादियों का कवरेज टीआरपी के लिए शक्तिवर्द्धक दवाओं का काम करती है।

एक चैनल बिना ड्राइवर के चलती हुई कार का विजुअल पांच घंटे तक ओन एअर करता रहा और बेचारा दर्शक कौतूहल के साथ एकटक किसी काले जादू के तिलस्म की तरह उसे देखता रहा। मध्यप्रदेश के एक छोटे कस्बे में एक बुजुर्ग ने घोषणा की कि चार दिन बाद उसकी मौत हो जाएगी तो देश भर के चैनल पगला गए। सबने अपनी ओबी और डीएसएनजी वेन्स उसके घर के बाहर लाइव कवरेज के लिए लगा दी। मौत के लाइव फुटेज से उसे टीआरपी जो मिलने वाली थी। दुर्भाग्य से तय शुदा समय पर बुजुर्ग की मौत नहीं हुई। लेकिन यह साबित हो गया कि खबरिया चैनल अपनी रेटिंग बढाने के लिए बिना सोचे विचारे कुछ भी दिखा सकते है।

टेलीविजन की मौजूदा दुनिया में टीआरपी एक भूत की तरह पत्रकारों और प्रोडयूसरों का पीछा करता रहता है। पहले हम यह समझ लेते है कि यह टीआरपी होती क्या है। टारगेट रेटिंग पाइन्ट नाम से प्रचलित यह शब्द टेलीविजन रेटिंग पोइंट नाम से भी जाना जाता है। यह रेटिंग का वह आंकडा है जो हर सप्ताह टेलीविजन आडियन्स मेजरमेन्ट यानी टेम नामक संस्था द्वारा जारी किया जाता है। टेम इंडिया का पैनल विश्व

के पांच श्रेष्ठ पैनल में शामिल है जो देश के एक लाख और एक लाख से अधिक की आबादी वाले 162 शहरों में 8150 मीटर के माध्यम से आंकडे एकत्र करता है। इस आबादी में चुने हुए दर्शको के टीवी सेट के साथ डिजिटल टीएम 5 पीपल मीटर लगाया जाता है। यह दशकों को बदल बदल कर लगाया जाता है इस मीटर से यह पता चलता है कि दर्शक ने किस कार्यक्रम को कितनी देर तक देखा। इसी आंकडे से चैनल्स की ग्रोस रेटिंग यानी जीआरपी और टारगेट रेटिंग यानी टीआरपी निकाली जाती है। इसी के आधार पर विज्ञापन जुटाए जाते है और चैनल्स अपनी लोकप्रियता का ढिंढोरा पीटते है।

असल में देखा जाए तो यह रेटिंग पद्धति व्यावहारिक तौर पर सही नहीं है और समय समय पर इसकी कार्यपद्धति पर सवाल खडे किए जाते रहे है। सबसे अधिक पहुंच वाले दूरदर्शन को मीटर मे रीडिंग ही नहीं मिलती जबकि यह देश सबसे बडा सरकारी टीवी नेटवर्क है। आम तौर पर मानवाधिकारों के हनन की चिन्ता करने में चैनल कम रूची दिखाते है लेकिन टीआरपी की दौड से इतर में मैं यहां एनडीटीवी का जिक्र करना चाहूंगा जो मानवाधिकारों के हनन पर सर्वाधिक कवरजे प्रसारित करता है फिर चाहे वह कर्जदार किसानों की आत्महत्या का मामला हो, झुग्गी बस्तियों में रहने वालों की समस्याएं हो या इराक, अफगानिस्तान या म्यांमार में मानवाधिकरों के उल्लंघन का मसला हो इसकी उपस्थिति सटीक विश्लेषण के साथ हर जगह रहती है। शुरु में एनडीटीवी ने कहा कि हर रेटिंग के पीछे नहीं भागेंगे तथा सच दिखाएंगे लेकिन टेम की मनमानी पर अपना विरोध दर्ज कराते हुए इस चैनल के प्रबन्धन में न्यूयार्क सुप्रीम कोर्ट में टेम की संचालक कम्पनियों निल्सन और कांतर मार्कट रिसर्च के खिलाफ याचिका दाखिल की। संस्थान ने कहा कि टेम पैसा लेकर रेटिंग में हेराफेरी करता है। इस शिकयत के बाद दूरदर्शन की संचालक संस्था प्रसार भारती ने भी भारतीय प्रतिस्पर्द्धा आयोग में में इसके खिलाफ शिकायत की। प्रसार भारती ने कहा कि दूरदर्शन देश में सबसे अधिक पहुंच रखने वाला नेटवर्क है। ग्रामीण क्षेत्रों में तो यह एक मात्र माध्यम हे जिसे दर्शक लगातार देखते है इसके बावजूद रेटिंग दर्ज नहीं की जाती। एक अंग्रजी बिजनेस चैनल ब्लूमबर्ग ने भी टेम की कार्यशैली सवाल उठाए और कहा कि दर्शकों की दादात मापने और और नमूने लेने का तरीका सही नही है। चैनल ने स्वयं 23 सप्ताह तक अपना विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। टीआरपी की अंधी दौड चैनलों के बीच इस कदर है कि कुछ विशेष विषयों तक ही सिमट गए है। क्रिकेट एसेक्स और क्राइम इन तीनों विषयों के इर्द गिर्द घूमते कार्यक्रमों के कारण जनता से जुडी और मानव के अधिकारों से सम्बद्ध खबरों को पीछे धकेल दिया है। मैं स्वयं एक क्षेत्रीय न्यूज चैनल ईटीवी राजस्थन का पांच वर्ष तक संपादक रहा। इस दौरान राजस्थान में कन्या भ्रूण हत्याओं पर चिन्ता जाहिर करते हुए मैंने प्रबन्धन से इस मुद्दे को उठाने और इसके लिए जन जागरुकता अभियान चलाने की स्वीकृति मांगी। टीआरपी के घाटे के खतरे को उठाते हुए भी प्रबन्धन ने मुझे इसकी स्वीकृति दी और मेरी

50 रिपोर्टर्स की टीम ने मिल कर पूरे प्रदेश में चार महीने तक मां मुझे जीने दो शीर्षक के साथ बडा अभियान चलाया। इसके साथ ही ऐसे कई अन्य अवसर भी आए जब हमने आम आदमी के इर्द गिर्द और जरुरतमन्द लोगों के इलाज के लिए दर्शकों से मदद की गुहार लगाई और जनसहयोग से उनका इलाज तक करवाया। अब समय आ गया है कि व्यावसायिक खतरों और टीआरपी के दबाव के इतर भी मीडिया को जनता का साथ देना होगा और उनके दर्द को बांटना होगा।

स्त्री के प्रति अपराध, मीडिया का धर्म तथा जनआक्रोशः एक संवाद*

#डॉ. अनिता सिंह

एक अध्ययन के मुताबिक भारत में हर रोज 480 महिलाओं के साथ हिंसा और हर 15 मिनट में एक महिला के साथ छेड़छाड़ होती है। हर 53 मिनट में यौनशोषण और हर 13 मिनट में अपहरण होता है। हर 29 मिनट में एक बलात्कार और हर दिन दहेज हत्या के 17 मामले दर्ज होते हैं । यानी कि स्त्री के प्रति होने वाले अपराधों की कोई सीमा नहीं। विश्व बैंक के अनुसार 15–44 आयुवर्ग की महिलाओं को बलात्कार एवं घरेलू हिंसा से जितना खतरा है, उतना कैंसर, सड़क दुर्घटना, युद्ध और मलेरिया से नहीं।

स्त्री के प्रति अपराध की समस्या कोई नई समस्या नहीं है। भारतीय समाज में महिलायें इतने दीर्घ काल से अवमानना, यातना और शोषण का शिकार हो रही हैं जितने काल के हमारे सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन के लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। स्त्री के प्रति होने वाले अपराधों की परम्परा–सी रही है।

सती–प्रथा , बाल–विवाह, बेमेल– अनमेल विवाह ये सभी इन अपराधों की जड़ में है। "मध्ययुग में भारत यात्रा पर आने वाले विदेशियों ने अपने यात्रा–विवरणों में देश के विभिन्न भागों में विधवाओं को विभिन्न तरह से जलाये जाने का हृदय विदारक वर्णन किया है। वहाँ यह भी लिखा है कि वे स्त्रियाँ अपनी इच्छा से या पति के लिये किसी असीम प्रेम के कारण सती नहीं होती थी बल्कि उनके जलाये जाने के पीछे सामाजिक और आर्थिक विवशतायें होती थी"[1]

4 सितम्बर 1987 को बीस वर्षीय रुपकँवर की सार्वजनिक दाह की घटना क्या हमारे मन–मस्तिष्क को झिंझोड़ देने वाली नहीं थी? आज भी अक्सर धर्माचार्य, समाज के ठेकेदार ऐसे बयान देने से नहीं चूकते कि स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करके परमधाम को प्राप्त करने में कुछ भी गलत नहीं है। अब सोचने वाली बात यह है कि जिस भारतीय समाज में स्त्री स्वेच्छा से खा नहीं सकती, पहन नहीं सकती, कहीं आ–जा नहीं सकती, मर्जी से विवाह तथा बच्चे पैदा नहीं कर सकती । वहाँ 'स्वेच्छा'से मरने देने के लिये हमारी परम्परायें इतनी उदार क्यों?

प्रश्न उठता है कि जैसे– जैसे नारी चेतना, शिक्षा, जागरुकता और मुक्ति के स्वर पहले से अधिक मुखर होकर सामने आये हैं, वैसे–वैसे स्त्री के विरुद्ध हिंसा बढी है।

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (राजकोट) में पढ़ा गया आलेख।

#पाडुचेरी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से संबद्ध।

विशेषकर महानगरों में स्त्रियों द्वारा जितना विरोध – प्रतिरोध बढ़ रहा है, उससे अधिक अपराध बढ रहे हैं । पर '' कुछ विद्वानों का मानना है कि अपराधों की बढोत्तरी को जनसख्ंया के अनुपात में देखे तो अपराध कहाँ बढ रहे हैं? एक और तर्क (कुतर्क) यह भी दिया जाता है कि कुल अपराधों की तुलना में स्त्री के प्रति अपराध का प्रतिशत तों सिर्फ सात प्रतिशत ही है। ''[2] इसी तरह पूरे वर्ष भर में देश में औसतन 8000 हत्यायें दहेज के कारण होती हैं। इनसे जुड़े एक लाख से भी अधिक मामले देश की विभिन्न अदालतों में वर्ष भर दर्ज होते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से उनमें से लगभग दो फीसदी मामलों में भी अपराध सिद्ध नहीं हो पाता। हमारे देश में दहेज के विरुद्ध कहीं कोई जनाक्रोश, कोई आन्दोलन नहीं दिखाई देता। दहेज के लिए औरतों की हत्या कोई बड़ा समाचार नहीं बन पाती, क्योंकि इस प्रकार की खबरों को सामान्य रुप से लिये जाने की प्रवृति बन गयी है। मीडिया में भी इस श्रेणी के अपराधों पर कोई चर्चा नहीं। औरतों के प्रति किये गये अपराधों को गिनाने की जरुरत नहीं पर सवाल यह है कि यह लड़ाई कैसे लड़ी जाय? परम्परानुसार तो स्त्री के प्रति चाहे जो हिंसा हो, अपराध हो उसे उसका व्यक्तिगत कहकर टाल दिया जाता है।

बेटी जानकर पेट में ही मारना हो या मर्जी से विवाह के सवाल पर मारना हो या दहेज न लाने पर जला देने का मामला हो। हाल में प्रेम स्वीकार न करने की स्थिति में तेजाब डालने के मामलों में वृद्धि देखी गयी है और यह सब जब हर तीसरी– चौथी महिला के साथ होने लगे तो यह मामला व्यक्तिगत कहाँ रहा? यह पूछा जाना चाहिये कि कानून अब तक इन अपराधों को रोक पाने में सफल क्यों नहीं हो सके? उत्तर आसान है, कोई भी कानून सामाजिक–व्यवहार या मानव–व्यवहार को बदल नहीं सकता। हर प्रकार के अपराध के निवारण के लिये कानूनों के होने के बावजूद सच्चाई यही है कि स्त्रियों को सरेआम 'डायन' कहकर पीटा जाता है, उनका अपहरण किया जाता है,उनके साथ बलात्कार किया जाता है, जला दिया जाता है। यह एक ऐसी स्थिति है जो न केवल अनैतिक है, बल्कि प्रत्येक सभ्य समाज के लिये चिन्ता और शर्म का विषय है। अगर मीडिया की बात करें चाहे वह अखबार हो, पत्र–पत्रिकायें, टी.वी. या अन्य कोई माध्यम क्या हमारी सोच और समाज को दिशा देने में उसकी कोई भूमिका है? समाज में मीडिया जो परिर्वतन ला रहा है, वह हमारे परिवार , सामाजिक सम्बन्धों के प्रति किस प्रकार के सोच का प्रतिनिधित्व करता है? क्या यह मीडिया का दायित्व नहीं है कि वह उन मुद्दो को उठाये जो हमारी आधी आबादी को अन्दर ही अन्दर घुट–घुटकर कर मरने को मजबूर कर रहे हैं। यही नहीं मीडिया ने लम्बे समय तक उन स्त्रियों की पीड़ाओं, आकांक्षाओ और उनकी समस्याओं की ओर देखने की जरुरत ही नहीं समझी, जो कस्बों या गाँवों में रहती हैं। मीडिया का अपना एक धर्म है, अच्छा या बुरा, सही या गलत। प्रत्येक व्यवसाय का अपना धर्म है। साहित्यकार निर्मल वर्मा ने एक घटना का जिक्र किया

है– ''टालस्टाय ने 'अन्ना केरेनिना' जैसा अमर उपन्यास तब लिखा था जब उसकी प्रेरणा उन्हें अखबार में छपी एक रिपोर्ट से मिली थी जिसमें एक महिला ने ट्रेन के नीचे आकर आत्महत्या की थी। हम यदि इन संकेतों को पढना भूल गये हैं तो इसलिये कि आज जिस भाषा में मृत्यु, हत्या के बारे में पढते हैं या देखते हैं तो वहाँ खून से लथपथ चेहरा तो दिखाई देता हैं पर उसके पीछे छिपा वह सत्य नहीं दिखाई देता जो हर घटना के पीछे छिपा रहता है।''[3]

''जब मीडिया का लक्ष्य केवल 'मनोरंजन' करना और 'सूचना' देना मात्र हो जाता है तब सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक धरातलों पर कई प्रकार की विकृत प्रवृतियाँ उभरने लगती हैं। वह प्रत्येक घटना को 'प्रोडक्ट' एवं 'पैकेजिंग' की शक्ल में देखने लगता है और उसी ढंग से उसे सम्प्रेषित करता है। ऐसे मीडिया का लक्ष्य बिन्दु 'ग्राहक' होते हैं 'जन' नहीं। क्या मीडिया द्वारा मानव पीड़ाओं का 'उत्पाद रूपान्तरण' उचित है?''[4]

यह सच है कि मीडिया ने स्त्री को एक मुक्त समाज दिया है। पर मीडिया में जो स्त्री दिखाई जा रही है, वह आधी आबादी का थोड़ा सा ही हिस्सा है। मात्र शहरी, मध्यम तथा उच्चवर्ग। क्या मीडिया की बनाई आधुनिक अर्धनग्न स्त्री की अपनी कोई पहचान विज्ञापनों के बाजार में हैं? स्त्री मात्र देह–सौन्दर्य की छवि के रूप प्रस्तुत की जाती है। आखिर फिल्म की नामी अभिनेत्री, प्रसिद्ध खिलाड़ी, कलाकार आदि की जो छवि जनता में है, मीडिया उसी का लाभ उठाता है। जैसे– सुपरस्टार अभिनेत्री जो कल तक खुबसूरती बढ़ाने वाले क्रीम–साबुनों के विज्ञापनों में दिखाई देती थी, वही विवाह के बाद बर्तन धोने के साबुन और बच्चों के डायपर बेचती नजर आती है। ये मीडिया का एक पक्ष है। अगर दूसरे पक्ष पर दृष्टि डालें तो पायेंगे कि तमाम विरोधाभासों के बावजूद आज की स्त्री यह मानती है कि मीडिया ने ही औरतों को भरपूर आत्मविश्वास दिया है, उड़ने को पर दिये है, आँखो में सुनहले ख्वाब।

मीडिया ने महिलाओं के आन्तरिक हिचक को तोड़ा है। मीडिया के सहयोगात्मक रवैये और जनआक्रोश से महिलाओं की चुप्पी टूटी है। यही वजह है कि कमलाभसीन, अनुष्का भांकर और पूजा भट्ट जैसी स्त्रियां पूरी दुनिया के सामने अपने साथ हुये अत्याचारों के बारे में खुलकर बात करती हैं। "सबके सामने इस तरह की बातें बताने का एक ही मतलब है। यह कि वे न सिर्फ अपनी बल्कि तमाम औरतों की चुप्पी को आवाज दे रही थी, वो यह हौसला दे रही थी कि अब कम से कम इस हिंसा पर बिना लोकलाज और इज्जत गँवाने के भय से बात की जा सकती है। यह एक बहुत बड़ा बदलाव है।''[5] तकरीबन 2–3 साल पहले मीडिया में चर्चा हुयी रूचिका गिरहोत्रा केस की। लगभग 19 साल पहले एक खबर अखबारों में दबी– ढकी सी छपी थी जिसमें एक पुलिस अधिकारी के ऊपर एक चौदह साल की टेनिस खिलाड़ी के यौन–शोषण का आरोप लगा था।

एक—डेढ साल के बाद एक और खबर कि उस किशोरी ने आत्महत्या कर ली है। फिर 19 सालों के बाद फिर से इस केस का खुलना और इस पर चर्चा होना यह दिखाता है कि अगर व्यक्तिगत प्रतिरोध को, आक्रोश को सामाजिक आक्रोश का रूप देकर सम्पूर्ण जनमानस को अपनी लड़ाई के साथ जोड़ लिया जाय तो व्यवस्था विवश होती है कि वह पीड़ित की बात सुने और न्याय दे।

दिसम्बर 2012 में दिल्ली में हुई शर्मनाक घटना के बाद लगभग प्रत्येक न्यूजचैनल, समाचारपत्रों में, देश के कोने—कोने से ऐसी घटनाओं के होने की सूचना मिलती रही । एकदम से जनमानस सन्न रह गया। क्या यह समाज रहने लायक है? समाज में खुले घूमते इन बर्बर पशुओं से बचकर रहना एक स्त्री के लिये क्या आज सम्भव नहीं है? यही वो प्रश्न था जो आक्रोश में तब्दील हुआ और एक पीड़िता की लड़ाई पूरे भारतीय जनमानस की लड़ाई बनी। इस प्रकरण में मीडिया ने इस लड़ाई को आगे बढाया। उसे जनता का मुद्दा बनाया। यही वो भावना थी जिसने 19 साल पहले हुये रूचिका के साथ हुये अन्याय के प्रतिकार के लिये पूरा समय दिया। जेसिका मर्डर केस में भी मीडिया ने ही साथ दिया। क्योंकि अक्सर ऐसा देखा जाता है कि स्त्री के प्रति इस प्रकार की हिंसा के बाद जनता के प्रति किसी भी प्रकार की जवाबदेही से मुक्त हमारे आदरणीय नेता लड़कियों, महिलाओं को सड़क पर चलने—फिरने के नियम समझाने लगते हैं। हमारे परम पूजनीय धर्माचार्य समस्त महिलाओं को नैतिकता का पाठ पढाने लगते हैं। अपराध और अपराधी की कोई चर्चा नहीं। दिल्ली की घटना पर कोई आश्चर्य नहीं, आश्चर्य हुआ उबलते—उमड़ते आक्रोशित जनसैलाब पर इन तथाकथित राजनीतिज्ञों तथा धर्माचार्यों को। ये वर्ग अभी तक यही मानकर चल रहा है कि औरतें कितनी भी शिक्षित हो जाय पूजा—पाठ ,कर्मकांड के दायरे में रहती हैं, वोट तक पति के कहने से डालती हैं। ये अपराध भी कोई पहली बार तो हुआ नहीं, होता रहा है। पर नहीं, इस बार कुछ अलग हो गया। सिर्फ भारत ही नहीं बाहर के देशों की महिलाओं को भी दिल्ली गैंगरेप के बाद हुये प्रदर्शनों ने हौसला दिया है, अपनी चुप्पी तोड़ने का। मीडिया के तमाम साधनों से पूरे देश की लड़कियाँ, महिलायें इस मुद्दे पर आपस में जुड़ी। और 'जब जनता आती है तो सिंहासन खाली होने लगते' है। सरकार विवश हुई, जाँच के आदेश दिये गये, पीड़िता का इलाज करवाया गया। मुआवजे के तौर पर मकान, नौकरी आदि देने के आश्वासन दिये गये। धीरे—धीरे ही सही यह बात समझ में आने लगी है कि संगठित जन—प्रतिरोध और मीडिया के सकारात्मक सहयोग से पीड़ित को न्याय दिलाया जा सकता है। अभी हाल में ही विगत 14 फरवरी को जनआक्रोश का एक अलग और अनोखा रूप लोगों ने देखा। इसे 'वन बिलियन राईजिंग' अभियान का नाम दिया गया।

अब समय आ गया है कि इन अपराधों को घर की बात न मानकर इन अपराधों के खिलाफ सड़क पर आया जाय। बिना सड़क पर आये न तो कोई लड़ाई लड़ी जा सकती

है, न ही जीती जा सकती है। इस बार के जनाक्रोश ने लोगों को जगाने का काम किया है। सरकारें देर से ही सही सचेत हुयी हैं। तमिलनाडु सरकार महिला सुरक्षा बढाने के लिये तथा उत्पीड़न समाप्त करने के लिये हर जिले में विशेष महिला फास्टट्रैक अदालतों की स्थापना और इन अदालतों में महिला वकीलों को नियुक्त करने का फैसला लेती है तो रेलमंत्री रेलबजट के दौरान रेल में महिलाओं की सुरक्षा के प्रबन्ध की बात करते हैं। क्या इसका भी यही आशय है कि जघन्य अपराध होने के बाद ही सचेत होना चाहिये। इसका यह अर्थ भी नहीं कि स्त्री के प्रति मात्र इसी अपराध पर हो–हल्ला मचाकर बाकी अपराधों के प्रति आँख बन्द कर लिया जाय।

स्त्री के प्रति अपराध की शुरूआत तो कन्याभ्रूण–हत्या से ही हो जाती है। पेट में बच गयी तो जन्म के बाद सही परवरिश न मिलने से, जीवन की गाड़ी आगे बढी तो विद्यालय, पास–पड़ोस, परिवार कहीं भी शारीरिक उत्पीड़न, विवाह हुआ तो दहेज न लाने पर हत्या। कदम–कदम पर हिंसा और अपराध। इस भयानक वातावरण को समाप्त करने की जगह लड़की को जन्म न देने का फैसला कितना आसान है और स्वाभाविक भी! इन्हीं कारणों से कन्या के माता–पिता जीवनभर सशंकित रहते हैं। किसी महिला को घर से बाहर भेजने के समय आज भी परिवार दस बार सोचता है। 'इंटरनेशनल इंस्टीटयूट ऑफ पापुलेशन स्टडीज' के अनुसार करीबन 45 प्रतिशत औरतों को घर में ही हिंसा झेलनी पड़ती है। रोज की गाली–गलौज,लप्पड़–थप्पड़ तो पड़ते ही हैं, ये औरतें पूरा जीवन इसी माहौल में गुजार देती हैं। आज की महिला सड़क पर आ रही है, फेसबुक, मोबाइल के माध्यम से लोगों को मुहिम में शामिल होने की अपील कर रही है तो इसे फैशन के तौर पर न लेकर इसके पीछे छिपे संकेतों को समझा जाय।

महिलाओं को इन अपराधों से मुक्ति दिलाने के लिये संघर्ष की शुरूआत हुयी है, महिलाओं को न्याय दिलाने के लिये केवल कानूनी–दाँवपेंचों से काम नहीं चलेगा। बल्कि सभी संवेदनशील महिलाओं, पुरूषों को एकजुट होकर संघर्ष जारी रखना होगा। इसीलिये जबतक मूल्य–व्यवस्था और न्याय की लड़ाई के लिये, जनशक्ति के रूप में संवेदना और आक्रोश रहेगा तब तक न्याय की आस बची रहेगी।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची––––

[1] कमल कुमार, 'सृजनलोक' ,दिसम्बर–2011,पृष्ठसंख्या–80

[2] प्रकाशनारायन नाटाणी, कन्याभ्रूण–हत्या और महिलाओं के प्रति हिंसा, बुकएन्कलेव, जयपुर,पृस. 156

[3] निर्मल वर्मा, 'मीडिया और बाजारवाद' सम्पादक– रामशरणजोशी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,पृस. 101

[4] रामशरणजोशी , मीडिया और बाजारवाद' राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृस. 16

[5] रवीशकुमार, समाचरपत्र–राजस्थान पत्रिका, 16 फरवरी, 2013

महिला सशक्तीकरण, स्वतन्त्रोत्तर हिन्दी पत्रकारिता व मानव अधिकार*

#प्रो. (डॉ.) ममता चंद्रशेखर

भारतीय संस्कृति की जीवंत परम्परा की निरन्तरता हमें सुदूर अतीत से जोड़ती है, और इसमें अंतर्निहित एकता विशाल जन–समूह में विविधता होते हुए भी समसरता का भाव विकसित करती है। सामाजिक परिदृष्य में निरन्तरता की दृष्टि से वर्ण, जाति व परिवार की संरचना ने लैंगिक स्थितियों को दीर्घकाल से प्रभावित किया है। यही वजह है कि नारीत्व की अवधारणा के कई प्रतिमान शताब्दियों से आदर्शों के रूप में जन–मानस में स्थित हैं।

सभ्य समाज की किसी भी परिकल्पना में मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय व समता के आदर्श पंथिक आस्थाओं परम्परागत विश्वासों तथा अहमवादी उद्घोषों से निश्चय ही वरीय है। वस्तुतः मानव सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। इसलिये उसके संरक्षणार्थ मानव अधिकार विधि व प्रावधानों की व्यवस्था है। दरअसल मानव अधिकार एक व्यापक संकल्पना है जिसमें स्त्री–पुरूष दोनों समाहित हैं किन्तु काल व परिस्थितिवश विभेद की खाई चौड़ी होती गयी। अस्तु मानव अधिकारों का विश्लेषण व मूल्यांकन महिलाओं के अधिकारों व लैंगिक न्याय के संदर्भ में करना समीचीन है।

प्रो. आर्शीवादम का मानना है कि ''प्रकृति से अधिकार सभी मानवों को उसी भांति मिले है जैसे त्वचा का रंग।'' अतः मानव अधिकारों का मूल ध्येय है मानव जीवन का संरक्षण। अति प्राचीन काल यथा – वैदिक सभ्यता बेवोलिया विधि, असीरिया विधि एवं हित्ती विधि में मानव अधिकारों का पुट रहा है। समस्त धर्मों का सार मानवता वादी दृष्टिकोण ही रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषणता व मानवीयता के हनन की रोंगटे खड़ी कर देने वाली घटनाओं ने मानव अधिकार की अवधारणा को तीव्रता प्रदान की ।24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी विश्व स्तरीय संस्था मानवीय गरिमा व विश्व शान्ति के मूल ध्येयों के साथ अस्तित्व में आई। इसके चार्टर के अनुच्छेद 68 में निहित प्रावधानों के तहत श्रीमती एलोनोर रूजवेल्ट की अध्यक्षता में एक अन्तरराष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग 1946 में गठित हुआ जिसने 10 दिसम्बर 1948 को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत की। 130 अनुच्छेदों के इस प्रतिवेदन को सार्वभौनिक घोषणा पत्र के नाम से जाना जाता है। इसका प्रभाव दुनिया के अन्य हिस्सों में निर्मित प्रसंविधाओं, अभिसमयों व समझौतों में परिलक्षित होता है।

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (इंदौर) में पढ़ा गया आलेख।

#एसोसिएट प्रोफेसर, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, इंदौर (मध्य प्रदेश)।

''मानव अधिकार'' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम थामस पेन ने किया था। जोकि फ्रांसीसी घोषणा में ''पुरुषों के अधिकार'' का अंग्रेजी अनुवाद है । उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। इस शब्द से भारत 1992 तक परे रहा। मानवीयता के रक्षार्थ व नागरिकों के संरक्षार्थ भारतीय संविधान के भाग 3 में मौलिक अधिकारों का विस्तृत ब्यौरा मौजूद है। 1993 मे मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम पारित हुआ, जिसके तहत राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर मानव अधिकार आयोगों की स्थापना हुई।

महिला सशक्तीकरण की अवधारणा

विकास के मार्ग पर अग्रसर होने के बावजूद प्रताड़ना, शोषण व उत्पीड़न अपने नये–नये रूपों में सामने आकर खड़े हो जाते हैं। पर्दा प्रथा, बहु–विवाह प्रथा, बाल–विवाह, सती–प्रथा, दहेज–प्रथा, पुत्र प्राथमिकता, इत्यादि समस्याओ ने समूचे महिला वर्ग को जमकर दबोच कर रखा। अनेक लोगों की पहल से कुप्रथाओं व शोषण उत्पीड़न की ऊँची–ऊँची दीवारों का कद कम ही नहीं हो पाया था कि महिलाओं को आधुनिकतम समस्याओं ने अपने आगोश में ले लिया। शिक्षा की दर, कुपोषण, बालिका भ्रूण हत्या, छेड़खानी, कार्यस्थल पर यौनशोषण, बलात्कार जैसे घिनौने अपराधों ने महिलाओं की अस्मिता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। दोयम दर्जे का जीवन व्यतीत करने की अभ्यस्त भारतीय महिला को कीमती धातु या वस्तु की भांति देखा जाता है जिसे छुपा कर रखे जाने की हिदायत दी जाती है। आज छः साल की बच्ची से लेकर 80 साल तक की महिला अपने घर, गली व कार्यालय में महफूज नहीं है। हत्या, बलात्कार का खौफ उसके साथ साथ चलता है।

यद्यपि भारत में तमाम संवैधानिक प्रावधानों विधियों, अधिनियम इत्यादि की व्यवस्थाएं भी हैं किन्तु इनकी उपस्थिति एक सवाल उत्पन्न करती है कि महिलाओं के लिये प्रथम उपबंधों की आवश्यकता क्यों पड़ी? क्या मानव मात्र के लिये किये गये प्रावधान पर्याप्त नहीं हैं?

हालाँकि आज भारतीय समाज में महिलाएं उच्चतम पदों पर आसीन हैं। सर्वोत्तम राजनीतिक हौदों तक उनकी पहुंच रही है। जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में महिलाओं ने अपनी योग्यता का परचम फहराया है। भारत के बाहर भी उन्होंने अपना नाम रोशन किया। विविध रूपों में सक्रिय महिलाओ को देखकर माओ का कथन याद आता है – ''आधा आसमान स्त्रियों ने अपने सिर पर उठा रखा है।''

स्वतन्त्रोत्तर हिन्दी पत्रकारिता में महिला संदर्भ

हिन्दी पत्रकारिता समाज का आईना है। चतुर्थ स्तंभ के बतौर अपने छवि का स्थापन करने वाले संचार माध्यमों में हिन्दी पत्र पत्रिकाओं का विशेष योग रहा है।

आजादी के प्रारम्भिक काल में ''नई दुनिया'' 1947 में इन्दौर से, ''स्वतंत्र भारत'' 1948 में उज्जैन से, 1947 में ही अमर उजाला, आगरा एवं नवभारत दिल्ली से 1949 में हिन्दी मिलाप, 1951 में राष्ट्रदूत, 1955 में नवयुग व वीर अर्जुन तथा 1965 में पंजाब केसरी अस्तित्व में आ गये।

प्रारम्भिक वषों में इन दैनिक समाचार पत्रों में नारी ने नख–शिरव तक सौंदर्य–बोधक पक्ष की प्रस्तुति दी गयी। ग्रह कार्य व काम प्रतीक के रूप में महिलाएं अखबारों की सुर्खियों में रही। कुछ समाचार पत्रों ने सिलाई–बुनाई व रसोई विशेषांकों का प्रकाशन किया।

इन्हीं दिनों ''दिनमान'' धर्मयुग व साप्ताहिक हिन्दुस्तान जैसी पत्रिकाओं ने महिलाओं के विविध स्वरूपों की विवेचना शुरू कर दी। 8 मई 1966 को नवभारत टाइम्स के रविवारीय अंक में महिला मण्डल स्तंभ में ''हम लड़कियां देखने जा रहे हैं'' शीर्षक से छपे लेख में लेखक श्री राम शरण शर्मा ने लड़की देखने की परम्परा पर व्यंगात्मक ढंग से अपने विचार रखे। 10 नवम्बर 1968 को ''हिन्दुस्तान'' में छपे एक आलेख में किशोरियों को कुछ समझाइश देने जैसे बाते प्रकाशित हुई। इस लेख से अनुमान लगाया जाने लगा कि महिलाओं में शिक्षा व जागरूकता बढ़ी है। 1977–78 में पंचवर्षीय योजनाओं का महिलाओं पर असर पड़ा है। 1975 में अन्तरराष्ट्रीय महिला दशक व महिला वर्ष (1975) के अवसर पर ''मनोरमा'', ''नवभारत टाइम्स'', ''आज'', ''दिनमान'', ''वामा'', ''मानुषी'', ''नई दुनिया'' व ''धर्मयुग'' आदि पत्र पत्रिकाओं ने महिलाओं से सम्बन्धित कार्यक्रमों , परिस्थिति व समस्याओं पर विशेषांक निकाले।

1978–82 के दरमियान देश में भ्रूण परीक्षण से करीब 78,000 बालिका भ्रूण को मौत की गोद में सुला दिया गया। अखबारों ने इनकी घोर निन्दा की। कामकाजी महिलाओं की सुरक्षा व शोषण से सम्बन्धित मुद्दों को अखबारों में जगह दी। एक व्यापक बहस छिड़ जाने के कारण महिला छात्रावास अस्तित्व में आये। मृणाल पाण्डे व पार्वती कृष्णा जैसी लेखिकाओं ने महिला मुद्दों पर प्रश्न उठाये।

अखबारों में प्रकाशित विधवा विवाह विज्ञापनों ने महिला सशक्तीकरण का एक नवीन आयाम प्रस्तुत किया। वर्तमान में महिलाओं से सम्बन्धित मुद्दों को अखबारों में पर्याप्त स्थान मिलता है। 2012 में दिल्ली गैंगरेप काण्ड अखबारों के माध्यम से जन–जागरूकता, जन आक्रोश व जन आन्दोलन का विषय बना। महिलाओं के प्रति घटते अपराधों के प्रति जनता व सरकार दोनों का ध्यान आकर्षित करवाया।

इसके बावजूद हिन्दी पत्रकारिता पर यह आरोप भी लगते रहे हैं कि वे महिलाओं के भोग्या स्वरूप की प्रस्तुति में अग्रणी है। महिलाओं की समस्याओं को गंभीरतापूर्वक प्रस्तुत नहीं किया जाता और महिला सशक्तीकरण के प्रयासों को आधे–अधूरे मन से प्रकाशित किया जाता है इत्यादि।

मेरा मानना है कि हिन्दी पत्रकारिता महिला सशक्तीकरण के मार्ग में एक मील का पत्थर साबित हो सकता है। यदि वह महिलाओं को सजने संवरने के नुक्शे देने के बजाय उन्हे मन से सशक्त होने का मंत्र दे। दूसरी बात भारतीय में समाज में मोबाइल के मार्ग से ''पोर्न'' रूपी फैले जहर से छुटकारा पाने के लिये एक जन अभियान छेड़ने की आवश्यकता है।

यह कार्य मात्र पत्र–पत्रिकाएँ ही भली – भांति कर सकती है। ताकि प्राचीनतम भारतीय संस्कृति का संरक्षण किया जा सके। दुनिया की आधी आबादी मातृशक्ति को मानव मानकर, उन्हें यथायोग्य स्थान दिया जा सके ताकि वे अपने अस्तित्व की स्थापना कर सके। अंत में सर्व–समानता मय समाज का निर्माण हो सके। जहाँ न कोई उत्पीड़क हो न कोई उत्पीड़ित, बस सह–अस्तित्व के भाव हों।

महिला सशक्तीकरण, सामाजिक चेतना व मीडिया*

#डॉ. संजुला थानवी

मध्यकाल में चमक खोती भारतीय नारी

संविधान की प्रस्तावना (प्रियेम्बल) में लिखा गया कि भारत में सभी को समान समझा जायेगा। प्रत्येक नागरिक को बिना किसी जेण्डर, रंग–रूप और धर्म के भेद को सोचें सभी का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिलेगा। उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होगी। वे अपनी धार्मिक मान्यताओं को मानने के लिये भी स्वतंत्र होंगे।

- समानता के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया गया। संविधान के 14वें अनुच्छेद में मौलिक अधिकारों में स्पष्ट किया है कि शासन के समक्ष सभी नागरिक समान हैं। अनुच्छेद 15 में यह भी स्पष्ट कर दिया कि न जाति, न धर्म, न जेण्डर का भेद किया जायेगा। सभी को समान समझा जायेगा। इन संवैधानिक प्रावधानों से राज्य को महिला और बच्चों के लिये विशिष्ट कार्य करने की ताकत प्राप्त हो गई। उनके विकास के मार्ग की चुनौतियों का सामना किया जाने लगा।
- समानता के साथ–साथ महिलाओं के आर्थिक हितों पर भी विशेष ध्यान दिया गया। संवैधानिक तौर पर लिखा गया और व्यवहार लाया गया कि संविधान के 16वें अनुच्छेद में सभी नागरिकों को रोजगार के लिये समान अवसर दिये जायेंगे। लिंग व जेण्डर आधारित रोजगार में विषमता नहीं रहे।
- संविधान में नीति निर्देशक तत्वों से भी यह निर्देश राज सरकारों को दिये। वे महिलाओं और अन्य कमजोर वर्गों के लिये सामाजिक न्याय की व्यवस्था करें। समान कार्य के लिये समान वेतन दिया जाए। महिलाओं के लिये रोजगार की पूर्ण सुरक्षित व्यवस्था हो। ऐसे भी प्रावधान बनाये गये जिससे कार्य स्थल पर मानवीय संस्थितियाँ रहे। महिलाओं को प्रसवकालीन अवकाश एवं सुविधाएं मिले।
- महिलाओं को वांछित सुविधायें और सुरक्षा मिले। इस प्रावधान के तहत 1976 में समान काम के लिये समान वेतन का अधिनियम बना। 1948 का न्यूनतम मजदूरी का प्रावधान भी सुरक्षित किया गया। अनेक अधिनियम बनाकर

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (राजकोट) में पढ़ा गया आलेख।

#निदेशक, सूरज संस्थान, जयपुर (राजस्थान)।

- महिलाओं की दशा में सुधार करने का प्रयास किया गया। ये अधिनियम हैं :– प्रसवकालीन सुविधा लाभ अधिनियम (1961), 1948 का फैक्ट्री एक्ट, 1952 का खान खनन एक्ट, 1948 का कर्मचारियों के बीमा का अधिनियम, 1970–71 का संविदा कर्मचारियों व मजदूरों के हितों का कानून।

इन अधिनियमों से महिलाओं को पुरुषों के समान नौकरियों और रोजगार का अवसर मिलने लगा। अधिनियमों के अतिरिक्त विभिन्न कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये। इनसे ग्रामीण महिलाओं से विशेष लाभ हो सके। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम, इंदिरा महिला योजना, ट्राईजम और अन्य कार्यक्रम प्रमुख हैं।

सशक्तीकरण की दिशा में किया जाने वाला प्रत्येक प्रयास नारीवादी आंदोलन का एक सशक्त चरण है जो एक महिला के माध्यम से समूची नारी जाति को शक्ति प्रदान करता है। समाज में नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिलाने के प्रत्येक चरण को एक उपलब्धि के रूप में देखा जाता है। आज का स्त्रीवादी आंदोलन अब नए मोड़ पर खड़ा है और उसकी कई शाखाएं विकसित हो चुकी हैं, जो भूमंडलीकरण, बाजारवाद और खुली अर्थव्यवस्था से प्रभावित है तथा स्त्री–पुरूष के संबंधों को एक नए रूप मे परिभाषित करने लगा है। नारीमुक्ति का विद्रोह पुरूष विरोधी न होकर उस व्यवस्था का विरोधी है जो स्त्री विकास के मार्ग में बाधा के रूप में जबरन थोपी जाती हैं। बाल विवाह, सती प्रथा, शिक्षा से उपेक्षा, देवदासी प्रथा जैसी कुरीतियां पंरपराओं की आड़ में थोपी गई बाधाएं ही थीं, जिनके विरोध में नारी स्वर को पुरुष समाज के एक बड़े वर्ग ने अपना समर्थन दिया।

गौरतलब है कि देश में इस दौर का सबसे पहला तथाकथित देशव्यापी आंदोलन मथुरा बलात्कार कांड की पुनः सुनवाई की मांग से प्रारम्भ हुआ था। मथुरा एक दलित कामगार युवती थी, जिसके बलात्कार ने समाज को एक नई बहस छेड़ने के लिए प्रेरित किया और बलात्कार के पीछे छिपे कारणों के विश्लेषण पर बल दिया।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भी महिलाओं को अंशतः राजनीतिक स्वतंत्रता तो मिली किंतु उसके सामाजिक बंधन यथावत् ही रहे। इसी कारण ब्रहासमाज, आर्य समाज, थियासोफिकल सोसायटी जैसी संस्थाओं के माध्यम से पुरुषों ने नारी मुक्ति की लड़ाई छेड़ी, जो वास्तव में शोषक सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ थी।

वास्तव में महिला को महिला होने के कारण न सिर्फ अनेक लाभप्रद व्यवसायों से अलग रखा गया, बल्कि बुद्धि के कम–से–कम प्रयोग से किए जाने वाले वाले कार्य भी उनकी पहुंच से दूर रखे गए, जिन्हें पुरुष करते हैं। इसी कारण मुखर होने का गुब्बार, उनमें किसी ज्वालामुखी के लावे की तरह एकत्र होता रहा और जहां उसे मौका मिला, वही फूट पड़ा।

सशक्तीकरण को अलग–अलग विद्वानों ने भिन्न–भिन्न रूप में परिभाषित किया है। कैम्ब्रिज शब्दकोष इसे प्राधिकृत करने के रूप में परिभाषित करता है। लोगों के सम्बन्ध में इसका अर्हत होता है। उनका अपने जीवन पर नियन्त्रण सशक्तीकरण की बात समाज के कमजोर वर्ग के विषय में की जाती है जिनमें गरीब महिलायें समाज के अन्य दलित और पिछड़े वर्ग के लोग सम्मिलित हैं। औरतों को सशक्त बनाने का अर्थ है, संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करना और उसे बनाए रखना ताकि वे अपने जीवन के विषय में निर्णय ले सकें या दूसरों द्वारा स्वयं के विषय में लिए गए निर्णयों को प्रभावित कर सकें। एक व्यक्ति सशक्त तभी कहा जा सकता है जब उसका समाज के एक बड़े हिस्से के संसाधन शक्ति पर स्वामित्व होता है। वह संसाधन कई रूपों में हो सकता है जैसे निजी संपत्ति, शिक्षा, सूचना, ज्ञान, सामाजिक प्रतिष्ठा, पद, नेतृत्व तथा प्रभाव आदि। स्वाभाविक है कि अशक्त है उसे ही सशक्त करने की आवश्यकता है और यह एक तथ्य है कि हमारे समाज में औरतें अब भी बहुत पिछड़ी हैं। ये बात हमारे नीति निर्माताओं, प्रबुद्ध विचारकों, अर्थशास्त्रियों के द्वारा मान ली गयी हैं।

विभिन्न विचारकों द्वारा ये मान लिया गया है कि भारत में औरतों की दशा अभी बहुत पिछड़ी है इसीलिये विगत कुछ दशकों से प्रत्येक स्तर पर नारी सशक्तीकरण के प्रयास किये जा रहे हैं। इन प्रयासों के असफल होने या अपने लक्ष्य को न प्राप्त कर पाने का बहुत बड़ा कारण अशिक्षा है परन्तु उससे भी बड़ा कारण समाज की पिछड़ी मानसिकता है। जब हम आज भी इस बात को स्वीकार नहीं कर पाए हैं कि हमारे समाज में लैंगिक भेदभाव हैं तो उसे दूर करने और नारी को सशक्त बनाने की बात ही कहाँ उठती है। हम अब भी नारी के साथ हो रही हिंसा के लिए सामाजिक संरचना को दोष न देकर व्यक्ति की मानसिकता कुवृत्तियों को दोषी ठहराने लगते है। हम में से अब भी कुछ लोग औरतों को पिछड़ा नहीं मानते बल्कि कुछ गिनीचुनी औरतों का उदाहरण देकर ये सिद्ध करने लगते हैं कि औरतें कहाँ से कहाँ पहुँच रही हैं।

हाँ कुछ औरतें पहुँच गयी हैं अपने गंतव्य तक संघर्ष करते–करते, पर अब भी हमारे देश की अधिकांश महिलायें आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से भी पिछड़ी हैं। उन्हें आगे लाने की जरूरत है।

संविधान की भावनाओं के अनुरूप 73वां और 74वां संवैधानिक संशोधन 1993 में किया गया। 24 अप्रैल, 1993 को राष्ट्रपति ने इन पर हस्ताक्षर कर महिला सशक्तीकरण का ऐतिहासिक दिवस बना दिया। पंच पालिकाओं में महिलाओं को एक तिहाई स्थान मिला। राजनीतिक नेतृत्व का मार्ग खुल गया। आज विधानसभा और लोकसभा में भी महिलाओं को एक तिहाई आरक्षण देने की पुरजोर कोशिशें चल रही हैं।

महिलाओं की सुरक्षा के लिये भी प्रयत्नशील होने की जरूरत है। सामाजिक विषमता और सामाजिक असंतुलन से महिलाओं के साथ अभी भी अत्याचार होता है,

शोषण होता है। इनसे सुरक्षा दिलाने की जरूरत है। सती प्रथा को रोका गया। बाल विवाह को निषेध किया गया। भ्रूण हत्या व बालिका हत्या पर रोक लगाई गई। ये सभी कानूनी प्रावधान है। 1856 में विधवा विवाह को मान्यता दी गई। बाल विवाह को रोकने के लिए शारदा एक्ट 1929 में बना। हिन्दू वूमैन्स राइट टू प्रोपर्टी एक्ट 1937 से विधवा महिला को जायदाद में पूरा हिस्सा मिलने लगा। ऐसे प्रावधानों से महिलाओं को समानता का अधिकार तो मिला पर सुरक्षा नहीं मिल सकी। उनकी संस्था का काम अभी भी शेष है। बलात्कार, प्रताड़ना, मारपीट, हिंसा, अपहरण, अवैधानिक प्रश्न आदि घटनायें होती हैं।

हम सभी इक्कीसवीं सदी में रह रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व एक गाँव में बदल चुका है। नवोन्मेष का दौर प्रारम्भ हो गया है। इसका एक सुखद पहलू यह भी उभरा है कि महिलाओं की स्थिति पर अधिक चिन्तन–मनन और खुल कर खोज करने का कार्य प्रारम्भ हो गया है। विभिन्न स्थानीय और अन्तरराष्ट्रीय संगठनों द्वारा महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये प्रयास प्रारम्भ किये हैं। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि पिछले अनेक दशकों में महिलाओं के संबंध में गंभीरता से विचार नहीं हो पाया है।

मानव अधिकारों की यह व्यवस्था कोई नवीन व्यवस्था नहीं है, यह सदियों के विकास का परिणाम है। शताब्दियों से मानव जाति अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही थी, मानव अधिकारों के समर्थक विश्व के कोने–कोने में जन्मे जिनकी उग्र, जोशीले, मर्मभेदी लेखनी और वाणी का प्रभाव ना केवल अनेक देशों पर पड़ा वरन समस्त संसार में उन्होंने अपने विचारों से हलचल मचा दी, जिसके फलस्वरूप कभी क्रान्ति द्वारा, कभी संविधान संशोधन द्वारा एवं कभी प्रार्थना द्वारा, जनता ने अपने मूलभूत अधिकार सम्राट आदि शासक वर्गों से छीनकर या शान्ति पूर्वक प्राप्त किये और आज तक इन प्रयासों का सिलसिला जारी है। मानव अधिकारों में भारतीय संविधान का 73वां संवैधानिक संशोधन का सर्वाधिक महत्व है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक क्षेत्र में बुनियाद परिवर्तन आया है। समाज में महिलाओं और कमजोर वर्ग से नेतृत्व उभरने लगा है। जनता द्वारा निर्वाचन की प्रक्रिया से युग युगों से चला आने वाला सम्भ्रात व बहुसंख्यक कृषक जाति के साथ महिलाएं और कमजोर वर्ग से पंच–सरपंच चुने जाने लगे हैं।

सच है जागरूकता से ही सहभागिता बढ़ती है। ग्राम या नगर के वार्ड में जागरूकता का स्तर जितना ज्यादा होगा स्थानीय, राज्य स्तरीय व केन्द्र की संस्थाओं में भागीदारी बढ़ेगी। वे चर्चा भी करेंगे और उनसे सवाल जवाब करेंगे? जरूरत है जागरूकता की। महिलायें जागरूक होने के मार्ग पर बढ़ने लगी है। अब समय आने वाला है या यो कहे कि 1995 से समय आ गया है महिलाये कहने लगी हैं – समय के रथ का घर्घरनाद सुनो, सिंहासन खाली करो कि महिलायें आ रही हैं। राम मनोहर लोहिया की यह मान्यता और पक्की समझ थी कि औरतों को बहस में शामिल किए बिना भारत में कभी भी किसी प्रकार की क्रांति नहीं होगी। आज देश इस क्रांति के लिये मजबूत धरातल बना रहा है।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे. कलाम द्वारा महिला सरपंचों (400) को शपथ दिलायी :

- बच्चे हमारी अमूल्य सम्पत्ति है।
- बालक–बालिकाओं को शिक्षित करेगा।
- अपनी मेहनत की कमाई जुऐं और शराब में बरबाद नहीं करेंगे।
- छोटा परिवार रखेंगे।

हम सभी मिलकर वनों की रक्षा करेंगे, प्रदुषण को रोकेंगे, हर सरपंच–पंच कम से कम पांच पेड़ और पौधे लगायेगा।

आज भारत में राजनीतिक और सामाजिक क्रांति की राह बन रही है। भारत देश में –

ग्राम पंचायतें	2,30,762	ब्लाक पंचायतें	5905
जिला पंचायतें	496	निर्वाचित प्रतिनिधि	34 लाख
निर्वाचित प्रतिनिधियों में महिलाएं		12 लाख	

सभी वर्गों की सामान्य, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की महिलाएं तीनों ही स्तर की पंचायतों ग्राम, ब्लाक व जिले में 1/3 और 1/2 स्थान लिये है। दुनिया के किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में स्थानीय स्तर की संस्थाओं में इनती जगह महिलाओं को नहीं दी है। इसी तथ्य के सहारे यह आशा की जाती है कि महिलायें राजनीतिक और सामाजिक क्रांति ला सकेगी। यह कार्य 73वें भारतीय संविधान संशोधन से उभरी भारत मॉ की बेटियाँ करने को तैयार हैं।

भारत में महिलाओं ने स्थानीय निकायों में अपने लिये आरक्षण मांगा नहीं था ना ही आन्दोलन किया। बिना संघर्ष आरक्षण व्यवस्था चल पड़ी। इससे महिलाओं की सार्वजनिक जीवन में भागीदारी बढ़ी है। अनेक सामाजिक विज्ञान के अध्ययनों ने बताया है कि महिलाओं ने सीमित साधनों के ढांचे में बहादुरी का काम किया है। भ्रष्टाचार से लोहा लिया है। कुरुतियों को हटाया है। पुरुषों की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाया है। पुरुषों के मुकाबले ज्यादा विकास के कार्य करके गांव को सुख पहुंचाया है।

एक अनुमान के अनुसार 30 लाख महिलाएँ स्थानीय स्वशासन के चुनावों में हिस्सा लेती है, चुनी जाती हैं। यहाँ यह भी मान लें कि प्रत्येक पद के लिये कम से कम तीन महिलायें प्रत्याशी रहती हैं तो एक करोड़ महिलायें राजनीति में पितृसतात्मक और पुरुष वर्चस्व वाले समाज में अपनी जागरूकता व भागीदारी बढ़ा रही हैं।

यह एक बड़ी बात है। यही तो प्रजातंत्र की नर्सरी है (सरदार पटेल)।

पंचायत राज के माध्यम से करोड़ो स्त्री–पुरूषों का जो लोकतांत्रिक प्रशिक्षण हो रहा है वह अंततः हमारी समग्र राजनीति के चरित्र को प्रभावित कर सकता है। हमें महिला

नेत्रियों की सफल कहानी खोज कर प्रचारित–प्रसारित करने का कार्य करना ही होगा। तब होगा महिला सशक्तिकरण का मार्ग प्रशस्त करता है। आरक्षण से महिलाओं को कोई राजनीतिक लाभ हुआ है, नजर नहीं आता। आरक्षण ने महिलाओं के अन्दर आत्मविश्वास तो जरूर भरा है।

मदुरै जिले के जिलाधिकारी चन्द्र मोहन ने अनुभव से बताया – ''अब हमें सुखद बदलाव दिखाई दे रहा है। अब महिला नेता पुरूषों पर निर्भर नहीं है। हम जो बैठकें कराते हैं उनमें व ही सबसे मुखर रहती हैं। गृहिणी होने के नाते वे बुनियादी जरूरतों को समझती हैं, शांति बहाल करने के मामले में पुरुषों से बेहतर साबित होती है। आज जरूरत है उनको अधिक जागरूक और प्रशिक्षण देने की।

मध्य प्रदेश के सीहोर जिले की ग्राम पंचायत बरखेड़ी की अनुसूचित जाति की बसन्ती बाई तीन बार अविश्वास प्रस्ताव से हटी तथा पुनः तीनों बार अधिक वोटों से जीती। बाद में सरपंच नहीं रहीं तो भी गाँव विकास में अपनी ही धुन चलाती हैं। सभी उसी के इशारे पर विकास का काम करते हैं।

प्रस्तुत हैं कुछ अंश –

- **पंचायत को बनाया ''हाईटेक उद्योगी गांव'' रजिन्दर कौर का कमाल** सरपंच राजिन्दर कौर ने लुधियाना जिले की बेगोवल ग्राम पंचायत को अत्याधुनिक और रोजगारमुखी बनाया।
- **महिला पंचों का संगठन ही महिलाओं की ताकत है** महाराष्ट्र के चंद्रपुर जिले की एक गांव पंचायत 'संर्दगता' में एक हजार निर्वाचित महिला जनप्रतिनिधियों का सम्मेलन हर वर्ष होता है। वहां पर वे अपने पांच वर्षों के कार्यों का अनुभव सुनती–सुनाती है।
- **छाया उम्मीदवार नहीं बनूंगी चाहे जितना कष्ट उठाना पड़े** यह गर्वोक्ति है दलित सरपंच 35 वर्षीय शक्ति की। तमिलनाडु के बिल्लुपुरम् जिले के अलंदर पेहई तालुके के अरासुर ग्राम पंचायत में शक्ति ने चुनाव जीता।
- **महिला सरपंच ने जगाई जनसहभागिता से विकास की ज्योति** सीतामऊ जिले की ग्राम पंचायत में महिला सरपंच लक्ष्मी कुंवर शक्तावत सहित सभी पंचायत प्रतिनिधि निर्विरोध चुने गये।
- **आग की घटना से सीखा लूणी देवी ने प्रशासन करना** राजस्थान बीकानेर जिले की ग्राम पंचायत अडूरी की 22 वर्षीय सरंपच श्रीमती लूणी देवी। समय आया सड़क निर्माण का। ठेकेदार ने पैसा ले लिया। मजदूरों को पैसा नहीं दिया। ठेकेदार की खबर ली। उसका कॉलर पकड़ कर जता दिया कि वो कमजोर नहीं

- **दूसरों की कमाई खाने की बजाय स्वयं के धंधे से जीओ** यह कहना है दुर्गादेवी का। राजस्थान के सीकर जिले के ''सरबारी'' ग्राम की हरिजन महिला सरपंच ने अपना जमादारिन का काम नहीं छोड़ा वो कहने लगी। सरपंच होना सेवा का दायित्व लेना है।
- **कमीशन नहीं दूंगी तुम्हें निलम्बन कराऊंगी** मध्यप्रदेश के हरदा जिले की ग्राम पंचायत रामटेक की अनुसूचित जाति की बलाई महिला सरपंच श्रीमती सोजर बाई ने नौकरशाही से मुकाबला किया। विकास के लिये मिले सरकार के धन का हिसाब मांगा।
- **''भला करोगे तो भला ही होगा'' जनता चुनेगी बार–बार** अपने सरंपच काल में महिला सरपंच गीता राठौर ने जिला सीहोर की जमुनिया ग्राम पंचायत क्षेत्र में विकास के कार्य किये। राज्य सरकार ने इस पंचायत को आदर्श ग्राम पंचायत घोषित कर 25000 रूपये की राशि प्रदान की।
- **जीत–हार की परवाह क्या, परवाह तो ग्राम विकास है** मध्यप्रदेश के सीहोर जिले की ग्राम पंचायत बरखेड़ी में आरक्षित सरपंच पद पर बसंती बाई चुनाव जीती पर बाद में वो दो बार अविश्वास से हठाई गई। हर चुनाव में जीती। गरीब परिवार की थी पर गांवों में अतिक्रमण हटाने पर अड़ी रही। सरकार से लड़कर विकास काम करवाती है। गांव के लोग भी उसी के पास आते हैं। वर्तमान सरपंच भी अवाक रह जाता है।
- **पल्लू को चेहरा से हठा, कमर पर बांधा और बताया – नारी कमजोर नहीं** यह है आदिवासी बाहुल्य छत्तीसगढ़ के गांव छोटा की सरंपच ओम टंडन का। ओम निर्विरोध चुनी गई।
- **स्वयं अभियान में बली बनो फिर दूसरों को त्याग सिखाओ** मध्यप्रदेश के देवास जिले की पहाड़ तहसील का एक गांव सोबल्यपुरा और पांजरिया से मिलकर बनी है सोबल्यपुर पंचायत।
- **किसी के हुक्म की गुलाम नहीं हूँ, जनता की सेवक हूँ** मदुरै के निकट अंतकरापट्टी गांव की दलित सरपंच के. पम्पा ने जब समझा कि कुछ अधिकारी और गांव के लोग हेराफेरी करके पंचायत के कोष से दो लाख साठ हजार रूपये की हेराफेरी करने का प्रयास कर रहे हैं तो उसने चैक पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया।
- **दलित महिला सरपंच केवल दलितों का नहीं, सभी का ध्यान रखती है** यह चरितार्थ करने वाली है मदुरै के पास मलेव लाबू की दलित महिला सरपंच चेल्लमल।

- **महिलाओं को अपनी क्षमता पहिचाननी जरूरी है** मदुरै में पूचम पट्टी पंचायत की सरपंच पी. रेवती कहती है कि चुनाव तो लड़ना चाहिये। आरक्षित स्थान नहीं हो तो सामान्य पुरूष स्थान पर भी अपना हक जताओ।
- **महिला पंच सरपंचों का महासंघ बनना जरूरी है** मदुरै ब्लाक की दलित महिला पंच–सरपंचों ने एक महासंघ बनाया है।
- **गरीबी और विकास का अभाव गांवों से मिटना ही चाहिये** मदुरै विकास खण्ड की एक महिला सरपंच पप्पा ने ठान लिया कि गांव में कार्य करवाना और रोजगार दिलाना जरूरी है। मोटर साइकिल चलाना सीखी, मोबाइल रखने व उससे बात करने की कुशलता पाई।
- **प्रतिबद्धता, निष्ठा और साहस के गुणों की प्रतीक है महिला सरपंच** यह कहना है उदयपुर क्षेत्र की महिला सरपंचों के साथ काम करने वाले डा. प्रताप मल देवपुरा का। आदिवासी सरपंच दुर्गा तावड़ विपक्षी सदस्यों, विधायकों व सांसद से सम्पर्क सूत्र की राजनीति से गांव का विकास कराने में सफल रही है। उसकी इच्छा है कि महिलायें पढ़ें, बालिका पढ़ें। पढ़ी–लिखी महिलाओं की ज्यादा इज्जत होती है।
- **गाँव में बिजली आने से रोजगार और विकास होता है** यह रहस्य की बात जबलपुर की आदिवासी ग्राम पंचायत बड़ैया खेड़ा की महिला सरपंच मुन्नी बाई ने सोची और कर दिखाया उजाला।
- **घरेलू हिंसा और सास–बहु के झगड़े मिटे तो गांव में शांति रहती है** घरेलू हिंसा रोकना, सास–बहुओं के झगड़ों का निपटारा करना सीखना हो तो मध्यप्रदेश के सिरोह जिले के सिहोर खण्ड के जमुनिया तालाब की गीता राठौड़ से सीख लेनी चाहिये। एक पत्नि को पीटने वाले पुरूष को थप्पड़ लगाई तो उसके पति समेत ग्राम के पुरूष चौंक गये। महिला ने मुकदमा दर्ज करवाया। पुरूष को बार–बार पेशी पर जाता देख गांव के लोग सहम गये।
- **हम माटी की मूरत नहीं हैं** मुजफ्फर जिले की समाख्या संयोजिका पूनम ने गया में होने वाले राज्य स्तर के महिला सरपंचों के सम्मेलन में उनसे बातें कीं। कामकाज के संबंध में पूछा तो उनके उत्तरों से वो चकित रह गईं। महिला सरपंच बोली कि अब महिलायें माटी की मूरत नहीं हैं। हम सोच–विचार कर काम में लगी हैं। पुरुषों पर निर्भर नहीं है।
- **शिक्षा दिला सकती है सभी सफलतायें** उत्तर प्रदेश के एक गुण्डागर्दी का प्रभावी गाँव मुँहफाड़ में सबसे कम उम्र की 23 वर्षीय पुष्पा नागर जीत गई। वह स्नातक तक पढ़ी है। गाँव वाले चिंता में डूब गये। गुण्डागर्दी वाले क्षेत्र में ''पुष्पा

का पुष्प'' कैसे खिलता रहेगा। हैरान हो गये लोग जब उसका कामकाज देखा तो गाँव की अभिशप्त पिछड़ी स्थिति को बदलना शुरू किया, गुण्डे भी कतराने लगे। बाहुबलियों से गरीबों को राहत मिली।

- **अत्याचारों को सहकर भी सक्षमता से काम करें** नीति दीवान ने मध्यप्रदेश राज्य की विभिन्न ग्राम पंचायतों की महिला सरपंचों के संबंध में लिखा है कि दबंग महिलायें अत्याचार सहकर उनको समाप्त करने में अपनी सक्षमता दिखाने में पीछे नहीं हैं।
- **जब एक महिला अपना परिवार चला सकती है तो देश भी चला सकती है** नीति दिवाने ''ग्रास रूट'' पत्रिका में चौपाई पवाई की महिला सरपंच रामरती बाई के कथन को उद्धरत करते हुए लिखा कि उसमें नेतृत्व के सभी गुण मौजूद थे। सर्वप्रथम राशन की दुकान पर घटिया सामान और बाजार से ज्यादा दाम लेकर बेचने की खबर ली। चार क्विंटल शक्कर ज्यादा कीमत पर ब्लैक से बेचते उसे रंगे हाथों पकड़ा गांव के लोग—लुगाइयॉ एकत्रित हो गई।
- **दलित महिला सुरमा देवी ने ब्लाक अधिकारी के कालर पकड़े और उससे माफी मंगवाई** उत्तर प्रदेश के पुरोला विकास खण्ड में हुडोली ग्राम पंचायत में सरपंच चुनी गई। वो जानना चाहती थी कि ग्राम पंचायत के लिये कितना फण्ड है, कौन सी योजना में है और इसकी प्रक्रिया क्या है।
- **महिला नेतृत्व अद्भुत साहसी है, सोचे वो करके दिखाती है** 'गुदड़ी के लाल' नामक पुस्तक में नंदिता राय ने राजस्थान के उदयपुर जिले के बड़गांव ब्लॉक के एक गाँव करावाड़ी की 32 वर्शीय वार्ड पंच सुशीला के नेतृत्व के लिये उपरोक्त कथन कहा है। सुशीला एक नाम नहीं महिला जागृति, शिक्षा का प्रकाश और महिला रोजगार लाने वाली संस्था है।
- **गरीबों को गरीबी से उभारो बेघरों को घर दो और शिक्षा का प्रकाश फैलाओ** यही महिला नेत्रियों का काम होना चाहिये। केरल राज्य में वटना पल्ली ग्राम पंचायत की महिला सरपंच सुबैदा ने ऐसा करके दिखाया।
- **गाँव का हर बच्चा शिक्षित हो और खर्चीले मुकदमेबाजी से ग्राम बचता रहे** ऐसा करके दिखाया उत्तरांचल देहरादून जिले की धुलकोट गांव पंचायत की मैना देवी ने। यही कारण रहा कि उन्हें दूसरी बार भी जनता ने चुना।

नारी में जागृति आई है। उन्होंने अपनी अकर्मण्यता त्यागी है। अस्वाभाविक तंद्रा को भी उखाड़ फेंका है। उनका कार्य क्षेत्र भी विस्तृत हो रहा है। उन्हें पुरुषों के समान अधिकार संविधान से मिले हैं उनको लेने के लिये संघर्ष कर रही है। जनतांत्रिक राजनीति से भी वे पनप रहीं हैं। भूख, वंचना और शोषण के विरूद्ध महिलाएं जागरूक होने लगी है।

महिलायें स्वयं सहायता समूह बनाती हैं। अनपढ़ महिलाओं को पढ़ा भी रही हैं। वे कहती हैं हम स्वयं आगे नहीं आएंगी तो उनको मिले संवैधानिक अधिकार कागज में ही रह जायेंगे। अब महिलायें घर से बाहर जागरूक होकर घर के बाहर सार्वजनिक जीवन में सहभागिता निभाने को छटपटाने लगी हैं। महिलाओं को अपनी पहचान स्वयं बनाने की चिंता सता रही है। महिलायें गाँव की जरूरतों को ज्यादा जानती हैं। नलकूप कहाँ लगाना है? कौन परिवार गरीब है उसकी मदद करनी है। मुसीबतें बहुत हैं। शिक्षा का स्तर भले ही महिलाओं का कमजोर है असुरक्षा के भय से सदैव ग्रस्त रहती हैं फिर भी सम्मेलनों और प्रशिक्षण कार्यक्रमों में जाने से वे अधिक जागरूक होकर मजबूत इरादे से पंचायतों को विकास का सशक्त माध्यम बना रही है।

घर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में महिलाएँ अपनी नई संभावनाएँ तलाश रही हैं। नये समीकरण जोड़ रही हैं। महिलाओं में दृढ़ संकल्पना, एकाग्रता, आत्मचिन्तन और कुछ करने दिखाने की ललक से वे उत्साहित हैं। पुरुष प्रधानता वाले समाज में नारी अपना अस्तित्व खोज चुकी है। नया स्थान बना रही है इसलिये माना जाता है कि 33 प्रतिशत ग्रामीण व शहरी निकायों में आरक्षण अब विधायिकी व लोकसभा में मांगा जाने लगा है। इस दृष्टि से 73वें संविधान के बाद जो सफलता के कार्य महिलाओं ने किये हैं, उनकी सफलता की कहानी अन्य महिलाओं की तन्द्रा तोड़ कर उदासीनता से उत्साही कार्य के लिये जगा सकती है।

इसके आधार पर यह विश्वास हो सकता है पंचायती राज संबंधित 73वें संविधान संशोधन से करोड़ों महिलाओं का देश में लोकतांत्रिक प्रशिक्षण हो रहा है, वह अंततः हमारी समग्र राजनीति के चरित्र को प्रभावित कर सकेगा।

73वें संविधान संशोधन की बेटियों (महिला सरपंचों) की सफल कहानियां हमें एक आशा का दीप दिखा रही हैं। वे बाल विवाह और भ्रूण हत्या रोक रही हैं। छोटे परिवार का चलन चला रही हैं। शिक्षा की अलख जगाती है। सड़कों से गाँवों को जोड़ती है और गाँवों को जोड़ती है और गाँवों में बिजली का प्रकाश फैलाती है। हर अधिकारी के साथ रिश्ते बनाने के साथ उनकी भ्रष्टाचार प्रवृत्ति से निलम्बन भी करवाती है। शराब को गाँव से अलविदा कर रही है। आपसी झगड़े आपस में ही निपटारा करने की सफल समझ जगा रही है। ग्राम सभाओं को सशक्त बनाकर गांवों में अतिक्रमण को तोड़ना, शराब बंदी करना, घर–घर में शौचालय बनवाना तथा गरीबी उन्मूलन का प्रयास कर रही हैं। स्वयं सहायता समूह और दीदी बैंको से महिलाओं को अपनी ताकत से गरीबी को मिटाने का संकल्प जगा रही हैं। इससे भी महत्वपूर्ण काम वो यह करके दिखा रही है कि जनता से चुने जाने के बाद किसी भी राजनीतिक पद पर रहो अपने स्वयं के व्यवसाय से आजिविका अर्जन करके जीओ। स्वयं झोपड़ी में रहकर गाँव वालों को पक्के मकान दिलाओ। शायद यही सोचकर यह माना जाता है कि हर क्षेत्र में ऐसी सफल सरपंचों की

सकारात्मक निर्भिक सोच और सृजनशीलता की कहानी खोजी जाय। मात्र यह कहना कि महिलाएं घूँघट में पति के सहारे काम करती हैं यह भी कहो कि वे पति के सहारे स्वयं को मजबूत करके घूँघट को कमर कस बनाकर अपना परचम भी फहरा रही हैं।महिला साक्षरता और शिक्षा महिलाओं की शक्ति है। साक्षरता की दृष्टि से महिलाओं ने भी कदम बढ़ाये हैं। शिक्षण संस्थाओं में उनकी उपस्थिति है। चाहे वो प्राथमिक स्तर की हो या विश्वविद्यालय स्तर की। इससे महिलाएँ सार्वजनिक क्षेत्र में सभी स्तर पर सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में सामान्य पद से उच्च अधिकारिक पदों पर काम करने लगी हैं। अब पायलट बनना तो आम जिज्ञासा बन रही है। अखिल भारतीय परीक्षाओं में महिलाओं का पुरूषों के मुकाबले प्रदर्शन भी अच्छा हो रहा है। यह बढ़ती साक्षरता की चेतना का ही परिणाम है।

महिला संगठनों व महिलाओं को एकजुट करना

गैर सरकारी संगठन, जो महिला विकास के पोषक भी होते है तथा उनकी सुरक्षा संबंधी प्रावधानों के संबंध में सरकारी तंत्र को प्रभावित भी करते है। गैर सरकारी संगठन समाज के व्यापक व दीर्घकालीन हितों में अत्यंत प्रभावशाली भूमिकांए निभाते है। वे महिलाओं को अपना हित–अहित समझाने और आत्मनिर्णय लेने के लिए संगठित व प्रेरित करते है। सरकार को अपनी नीतियों पर पुनर्विचार के लिए बाध्यय कर सकते है।

अखिल भारतीय महिला परिषद – यह संस्था दुखी, उत्पीड़ित तथा आश्रय की तलाश कर रही महिलाओं को सहायता प्रदान करती है। महिलाओं के विकास तथा इन्हें स्वावलंबी बनाने हेतु यहां कम्प्यूटर, ब्यूटीशियन, टाइपिंग आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

प्रयास – प्रयास वास्तव में गरीब बच्चों के उत्थान व पुनर्वास में कार्यरत संस्था है। यह स्लम क्षेत्रों में रहने वाले उन बच्चों के लिए कार्य करती है जो हिंसा व उत्पीड़न का शिकार होते हैं। यह संस्था वेश्यावृत्ति में धकेली गई, यौन उत्पीड़न की शिकार लड़कियों के पुनर्वास में भी सक्रिय है।

नवज्योति दिल्ली पुलिस फाउंडेशन –अन्य संस्थाओं के समान यह संस्था पारिवारिक सलाहकार केंद्र के रूप में कार्य करती है तथा घरेलू हिंसा, उत्पीड़न आदि समस्याओं का निदान करती है। यदि आवश्यक हो तो संस्था के कार्यकर्ता लोगों के घरों में जाकर भी सहायकता प्रदान करते हैं, जिसमें उन्हें पुलिस व प्रशासन का भरपूर सहयोग मिलता है।

नेशनल फेडरेशन ऑफ इंडियन वीमेन –एक ओर वैज्ञानिक व पारिवारिक मतभेदों को सुलझाने में कार्यरत है तो दूसरी ओर दहेज जैसी उन कुप्रथा का भी विरोध करती है जो महिलाओं के उत्पीड़न का कारण बनती हैं व विकास में बाधक बनती हैं। दिन हो या रात, संस्था के कार्यकर्ता किसी भी समय पीड़ित को सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर रहते हैं।

चेतना वेलफेयर सोसायटी —यह संस्था भी वैवाहिक व पारिवारिक मतभेदों को सुलझाने के लिए जानी जाती है। यहां पीड़ित महिला व परिवार की काउंसलिंग भी की जाती है तो दूसरी ओर पीड़ित महिला को हर संभव कानूनी सहायता भी उपलब्ध कराई जाती है। किंतु किसी भी पारिवारिक विवाद को परस्पर समझौते से सुलझाकर परिवार को जोड़े रखना संस्था का प्राथमिक लक्ष्य होता है।

20वी शताब्दी में महिलाओं के विरूद्ध अपराधों में बेतहाशा वृद्धि हुई, किंतु साथ ही उनकी सुरक्षा हेतु कई कल्याण परक कानून भी बनाए गए। न्यायिक दृष्टि से 20वीं शताब्दी का उतरार्द्ध महिला सशक्तीकरण की दिशा में काफी सार्थक रहा। यद्यपि इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास 1860 में भारतीय दंड संहिता के रूप में किया गया था, जिसमें समय व परिस्थितियों के अनुसार कई परिवर्तन किए गए।

सभी प्रावधानों और प्रयत्नों के होते हुवे भी आज भी समाज में महिला को दोयम दर्जा मिला है। उसे एक वस्तु माना गया है। समाज में सभी कानूनों व प्रावधानों को अनदेखा करते हुए महिला का मूक, असक्त और गुड़िया मानते हैं। इससे यह माना जाना सहज है कि कानून बनाने और लागू करने में बहुत ही अन्तर है। उनमें खाई है। ऐसा 18 वर्षीय रूप कंवर के सती होने से माना जा सकता है। 55 वर्ष की चरण शाह की अप्राकृतिक हत्या हो गई। प्रतिदिन समाचार पत्रों में ऐसी हत्याओं की घटनाएं पढ़ने को मिलती हैं

निम्न वर्गीय महिलाओं की हालत अभी भी दयनीय है। इसका मूल कारण गरीबी है। ग्रामों में अधिकांश परिवार झुग्गी झोंपड़ी में रहते हैं। अधिकांश महिला खेतीहर मजदूर है। कुछ छोटे—मोटे उद्यमों में बंधक मजदूर आर्थिक अर्जन के कार्यों में महिलाओं की भागीदारी कम है।

लेखिकाओं ने हिंदी साहित्य के माध्यम से विविध आयामों को छुआ है और नारी के उत्थान में सार्थक बदलाव लाकर उसकी शक्ति बनी हैं। '' अपनी हर लड़ाई मैंने लिख कर जीती। मेरे कागज मोर्चा होते और सैनिक बनें.......'' मेहरून्निसा परवेज के ये शब्द उस स्त्री के संघर्ष का प्रतिबिंब हैं जो उसे प्रतिक्षण करना पड़ा। अपने अस्तित्व बोध के लिए नारी ने अधिकार पाने की लड़ाई में पुरूषों के वर्चस्व वाले क्षेत्र में चुनौती खड़ी की है।

अधिकांश गरीब महिलाएँ ऐसी परिस्थितियों में रहती हैं, जो उनकी शिक्षा प्राप्ति में बाधक बनती हैं। दिन—प्रतिदिन अपने जीवन को गति देने का प्रयास करती महिलाएं अपनी सामाजिक भूमिका को भूल जाती हैं। शिक्षा व सूचना साधनों के अभाव में उन्हें सामाजिक परिवर्तनों का बोध नहीं होता और आत्मविश्वास की कमी के चलते वे किसी भी निर्णय व नीति—निर्माण प्रक्रिया में शामिल नहीं हो पातीं।

इस नीति के अंतर्गत पंजाब, राजस्थान के सरकारी स्कूलों सहित मणिपुर, दिल्ली, मेघालय, चंडीगढ़ व उत्तर प्रदेश के स्कूलों में आठवीं कक्षा तक, बिहार, हिमाचल, तमिलनाडु के सरकारी स्कूलों सहित, आंध्र प्रदेश, असम, कर्नाटक, मिजोरम व लक्षद्वीप के दसवीं कक्षा तक, सिक्किम के सरकारी स्कूलों सहित अरूणाचल प्रदेश, गोवा, जम्मे–कश्मीर, केरल, त्रिपुरा, पश्चिम बंगाल, अंडमान–निकोबार द्वीप समूह, दमन व दीव, दादर व नगर हवेली, गुजरात, पांडिचेरी व मध्य प्रदेश में बारहवीं कक्षा तक लड़कियों को मुफ्त शिक्षा देने का प्रावधान रखा गया।

महिला साक्षरता और शिक्षा महिलाओं की शक्ति है। साक्षरता की दृष्टि से महिलाओं ने भी कदम बढ़ाये हैं। शिक्षण संस्थाओं में उनकी उपस्थिति है। चाहे वो प्राथमिक स्तर की हो या विश्वविद्यालय स्तर की। इससे महिलाएँ सार्वजनिक क्षेत्र में सभी स्तर पर सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में सामान्य पद से उच्च अधिकारिक पदों पर काम करने लगी हैं। अब पायलट बनना तो आम जिज्ञासा बन रही है। अखिल भारतीय परीक्षाओं में महिलाओं का पुरुषों के मुकाबले प्रदर्शन भी अच्छा हो रहा है। यह बढ़ती साक्षरता की चेतना का ही परिणाम है। मनुष्य का जन्म सहज है, और उसे जैसा वातावरण मिलता है, उसी के आधार पर वह विकसित होता है । महिलाओं से भी आग्रह है कि ऐसा प्रबुद्ध संस्कार बचपन में ही बच्चों को दें, जिससे बच्चें बड़े होकर सामाजिक चेतना में अहम भूमिका निभाये।

नारी शिक्षा सशक्तीकरण का प्रश्न समूची नारी जाति के विकास से जुड़ा है और उसके सशक्तीकरण के लिए उसे शिक्षित किया जाना अनिवार्य है। नारी शिक्षा के महत्व को दर्शाते हुए जवाहर लाल नेहरू ने कहा था, '' .... मेरा यह दृढ़ मत है कि एक बार पुरूष शिक्षा की उपेक्षा की जा सकती है, लेकिन स्त्री शिक्षा की उपेक्षा करना संभव एवं वांछनीय नहीं है.........।'' एक शिक्षित स्त्री ही वास्तव में अपना संघर्ष सही अर्थों में कर सकती है और पुरूषों के समकक्ष खड़ी हो सकती है। डॉ भीमराव अंबेडकर के शब्दों में,......'' शिक्षित और आत्मनिर्भर होकर ही नारी समता और सम्मान पा सकती है। उसे अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ेगा, क्योंकि अधिकार भीख में नहीं मिलते, छीन कर लिए जाते है.......''

मीडिया की शक्ति

महिला सशक्तिकरण व सामाजिक चेतना में मीडिया की अहम भूमिका है, मीडिया चाहे प्रिन्ट मीडिया हो या इलैक्ट्रॉनिक मीडिया। नारी सशक्तीकरण में इसके प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। इस हेतु मीडिया प्रसारण के लिए आगामी पांच वर्षो की रूपरेखा तैयार हो, जिससे पूरे देश में प्रकाशन एवं प्रसारण में जगदम्बा की वो शक्ति पूरे देश में जगाने की आवश्यकता है। स्कूल, विद्यालयों, कॉलेज एवं विश्वविद्यालयों में इस थीम पर नारी के स्वरूप का चित्रण हो। इस थीम पर ही प्रकाशन एवं प्रसारण हो तो देश

फिर से एक बार ऐसा खड़ा होगा, जैसे हिमालय अड़िग है। वैसे ही भारत अड़िग होगा। चारित्रिक शरण रोकना आज की आवश्यकता है, चारित्रिक शरण में व्यक्ति का आत्मविश्वास हिल जाता है।

बलात्कार और यौन उत्पीड़न की दुर्घटनाएँ जो देश में हो रही है। समाचार पत्रों एवं न्यूज चैनल के माध्यम से प्रसारित होती है, बहुत बड़े कंलक की बात है। जिस देश में नारी को नारायणी के रूप में स्वीकार किया गया हो, उसे भोग्या माना ही नहीं गया। उस दो की माताओं–बहनों का इस प्रकार चित्रण निश्चित रूप से पीड़ा दायक है।

आज के समाचार पत्र महिला अपराध, महिला हिंसा, बलात्कार इत्यादि से समाचार पत्र भरे पड़े रहते है। घटनाओं का बिना जांचे परखे प्रसारित किया जा रहा है, उचित तो यह हो कि दुष्कर्मी को कठोर से कठोर सजा हेतु मीडिया अभियान करे। ऐसे अपराध पर फास्ट ट्रैक अदालतो में अधिक से अधिक 15 दिनों में न्याय करते हुए, कठोर कारावास एवं मृत्यु दण्ड की सजा हो। कानून की ढ़िलाई या त्वरितता में कमी ही अपराध को बढ़ावा दे रहे है। यदि तत्काल कार्यवाही हो तो व्यक्ति अपराध के परिणाम जानकर दुश्कर्म में प्रवृत्त नहीं होगे।

मीडिया की शक्ति इतनी है कि सैकण्डों में पूरे देश को जागृत कर सकता है। मीडिया के विस्फोट एवं उचित प्रसारण से मानव मूल्यों के हास को रोका जा सकता है।

नारी द्वारा ग्राम, नगर, शहरों में जहाँ कंधे से कंधा मिलाकर चलने का सामर्थ्य जुटा रही नारियों के सुखद चित्रण, प्रसारण से मानवीय मूल्य विकसित होते है। आज बिना नारी के पुरूष की कल्पना ही नहीं हो सकती है।

क्या हो भावी रणनीति ? : भारत में महिला की सुख समृद्धि हो सके

पंचायती राज में महिला सहभागिता का क्षेत्रीय नेतृत्व उस क्षेत्र में स्त्रियों की दशा का दर्पण है। उस क्षेत्र की सामाजिक–पारिवारिक परिवेश तथा परिस्थितियों से महिला नेतृत्व की स्थिति स्पष्ट होती है। महिलाओं में साक्षरता की दर बढ़ रही है। गाँवों में भी बालिका शिक्षा का चलन हो रहा है। महिलायें अब अल्प व छोटे परिवार की हावी हो रही हैं। घूँघट उनकी परम्परा है पर अब इससे भी महिला उबर रही है। अब महिलायें भ्रूण हत्या को रोकने में सजग हैं। बाल मृत्यु दर भी कम हो रहा है। ग्रामीण नेतृत्व की श्रेणी में 30–45 वर्ष की महिलाएँ ज्यादा निर्वाचित होकर काम कर रही हैं। अब वे अपनी शैक्षणिक स्थिति को बढ़ाने की दिशा में सोच रही है। महिलाओं में राजनीतिक जागृति और प्रशासनिक क्षमताओं का विकास होने लगा है।

महिलाओं में भी कानूनी जागरूकता का अभियान चलाना जरूरी है। महिलाओं के देश के विकास में सहभागिता भी निभानी जरूरी है। महिलाओं को आन्दोलित भी होना होगा। इस संबंध में जो भी अभियान चलते हैं वो मध्यमवर्गीय महिलाओं तक जागरूकता

की कुछ आवाज पहुँचा सकते हैं। महिलाओं में पढ़ने की ललक जगाना, बालिकाओं को स्कूल भेजना, मताधिकार का प्रयोग करना, सम्पत्ति के अधिकारों को लेना जैसे विषयों पर बहुत काम करने की जरूरत है।

आज की आवश्यकता है कि नारी अपने साहस, विश्वास और निर्भयता से सामना करने वाली प्रतिभागी बने। सामाजिक कुरीतियों को समाप्त कर मानवता की ओर प्रेरित हो। सरोजिनी नायडू जो भारत की प्रथम कांग्रेस अध्यक्ष व गर्वनर रहकर नारी जाति के गौरव को बढ़ाया, निर्भय स्वंतत्र समाज सुधारक महान कवयित्री समाज के प्रत्येक वर्ग को स्वतत्रता प्राप्त करने हेतु जागृति का शंखनाद फूंका। जिसमे सावित्री का साहस व दमयंती का विश्वास मौजूद था। आज महिला अपनी शक्ति को पहचान ले तो किसी भी समाज के सामने हेय नहीं मानी जायेगी। इस समय कमी इस बात की है कि महिलाए अपने व्यक्तित्व के मुल्यों को स्वंय नही आंक सकती, जिसके लिये जरूरत है आत्म चिंतन करने की, शिक्षा का प्रचार किया जाये हर युग में महिला की प्रतिष्ठा रही है जब उसने अपने स्वतंत्र चिंतन से जीवन के तथ्यों को परख ने की कोशिश करे।

"मेरे ओर हमारे सबके लिये प्रतिकूल परिस्थितियाँ कुछ नहीं, केवल चाबुक का प्रहार है और वस्तुतः आगे बढ़ने के लिये हमें इन्हीं की आव यकता है।" हिटलर

मैं उन महिलाओं को ज्यादा श्रेष्ठ मानती हूँ, जो स्वयं के श्रम से आगे बढ़ती है यदि वे अनपढ़ हो, कृषक, मजदूर हो, लेकिन उन्हें अपने श्रम से जीना आता हैं वे महिलायें दे□ा का क्या उत्थान करेगी, जो दूसरो के श्रम से अपना जीवन आगे बढ़ाती है मुझे ऐसों से घृणा ही नहीं बल्कि नफरत भी है जो बहनों को स्वयं के श्रम से जीना न सिखाकर पराश्रित बनाते हैं। नारी पति पर भी आश्रित न होकर स्वयं शक्ति एवं साहस से आगे बढ़े यही आज जरूरत व समय की माँग है।

विज्ञापनों, चलचित्र, सिनेमा में नारी का चित्रण मर्यादित शौर्य भाक्ति से भरा होना ही आज की आवश्यकता है किसी भी राष्ट्र के संक्षरण में संस्कारित प्रसारण आज की जरूरत है। समाचार पत्रों, सीरियल एवं चैनल मालिकों से विनम्र अनुरोध है कि भारत में 10 वर्षो तक नारी गौरव पुनर्स्थापना के लिये शौर्य, समता, समरसता, एवं पवित्रता की थीम पर हो।

कहने को तो अंधेरा है पर अंधेरा स्वीकारें तो अंधेरा होगा। कुछ लोग अंधेरा फैलाकर खुश होते हैं। अब जरूरत है रोशनी की किरणें फैलाने की, चाहे वो करोड़ों नहीं एक ही हो, वो अंधेरे से लड़कर उजाला लायेंगे।

REFERENCE

1 Indian Human Rights Report, 2009

2 Human rights and gender justice in India : Satinder Bains

3 Commonwealth Human Rights Initiative (CHRI) 10 July 2009

4 Panchyat Raj Update, Monthly (Last 10 Years) Published by Institute of Social Science, New Delhi

5 MAGNACARTA

6 Panchayati Raj institutions and human rights by George Mathew, PUCL Bulletin, March 2003

7 Universal Declaration of Human Rights.

8 Constitution of India – Dr. J.N. Pandey.

9 Constitution of India – Dr. Basu

10 Human Rights – Dr. Basu

11 The Gram Sabha : Gateway to Grassroots Democarcy Journal of Rural Development Vol. 16 (4) National Institute of Rural Development (NIRD), Hyderabad. Jain S.P.

12 Kothari, Rajni (1998): State Against Democracy: In Search of Human Governance, Ajanta, Delhi.

13 Lokayan Bulletin 'Ariticles of the Right to Information', Vol.II, September – Octomber 1999.

14 PRIA(2001) : State of Panchayats: A Participatory, Perspective (unpublished).

15 Law and Social transformation (Malik & Raval)

16 सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005

17 भारतीय दण्ड संहिता

18 73 वें संशोधन अधिनियम

19 दहेज प्रतिषेध (संशोधन) अधिनियम

तृतीय खण्ड – साहित्य

मानवाधिकार, विज्ञान और साहित्य

#प्रो0 नन्द किशोर आचार्य

मानवाधिकारों की संकल्पना को, सामान्यतः, एक नैतिक आदर्श या अवधारणा की तरह स्वीकार किया जाता रहा है और इसलिए, साहित्य के साथ उसकी स्थिति को तो आसानी से समझा जा सकता है क्योंकि साहित्य का संबंध भी मूलतः, मानवीय भावनाओं, पीड़ाओं और स्वप्नों से रहा है और मानवाधिकार की संकल्पना एक ऐसी सार्वभौमिक व्यवस्था का सपना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सभी तरह की पीड़ाओं से मुक्त एक सुखी और सार्थक जीवन जी सके। इसलिए विज्ञान और उसकी सन्तान प्रौद्योगिकी से भी वह संकल्पना यही उम्मीद रखती है कि उसका प्रयोग न केवल स्वयं कहीं भी मानवाधिकारों का न केवल अतिक्रमण करे, बल्कि उन्हें प्रकट करने की दिशा में अधिकाधिक सक्रिय भी हों।

लेकिन, विचार करने की जरूरत तो यह है कि मानवाधिकारों की संकल्पना स्वयं में क्या कोई काल्पनिक आदर्श या नेतिक कल्पना मात्र है अथवा उसका अपना कोई विज्ञानसम्मत आधार भी है। यदि यह संकल्पना ही विज्ञान–सम्मत नहीं है तो विज्ञान से उसका रिश्ता ही भला क्या हो सकता है? यह एक विज्ञान सम्मत धारणा है कि मनुष्य जैविक विकास का सर्वश्रेष्ठ स्तर है, कि उसमें जीवन और चेतना की अद्यतन सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में इसके गुणात्मक उत्कर्ष की अपेक्षा भी मनुष्य से ही की जा सकती है। लेकिन, मनुष्य को अन्य जीवों से श्रेष्ठ मानने का ध्वन्यार्थ क्या है? वह सबसे श्रेष्ठ, सचेत और समर्थ है, इसलिए क्या वह सब कुछ का अबाध उपयोग कर सकता है अथवा वह क्योंकि सबसे श्रेष्ठ है, इसलिए शेष जीवन–जगत की सुरक्षा और सम्पोषण का दायित्व भी उसी पर है। श्रेष्ठता मनुष्य को और जिम्मेदार बनाती है या गैर जिम्मेदार? जिम्मेदारी अन्य मनुष्यों की नहीं प्रकृति और मनुष्योतर जीवन के प्रति भी। यदि श्रेष्ठतर को यह अधिकार है कि वह अपने से हीन का अपने लिए उपयोग कर सकता है तो क्या हम इस तर्क के आधार पर यह मानने को सहमत हो सकते हैं अधिक विकसित और शक्तिशाली वर्गों या राष्ट्रों का यह प्राकृतिक अधिकार है कि वे अपने से हीन, कमजोर और अविकसित मानव समूहों या राष्ट्रों का अपने लिए उपयोग कर सकें?

दरअसल, मनुष्य इसीलिए अन्य जीवों से श्रेष्ठ है कि वह अब जैविक विकास वाद की 'प्राकृतिक चयन' की प्रक्रिया का अतिक्रमण कर सकता है। जीवन के मनुष्य रूप

प्रसिद्ध चिंतक एवं विचारक, आई.आई.आई.टी., हैदराबाद

में रूपान्तरित होते ही अब उसमें चेतना या विचारशीलता का ऐसा गुण विकसित हो गया है, जिससे वह अब अपने भावी विकास की प्रक्रिया में 'प्राकृतिक चयन' की प्रक्रिया का अतिक्रमण करता हुआ स्वयं उसमें हस्तक्षेप कर पाने में समर्थ हो जाता है। इसीलिए, हम पशुओं के व्यवहार में नैतिकता या उत्तरदायित्व की अपेक्षा नहीं करते – वहां 'प्राकृतिक चयन' ही कसौटी रहता है – लेकिन, मनुष्य के व्यवहार में इन प्रवृत्तियों की अपेक्षा करते हैं और इनका अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति, समाज या व्यवस्था को अनुचित मानते हैं। जैविक विकासवाद के प्रस्तोता स्वयं चार्ल्स डार्विन को भी यह स्वीकार था। स्वयं डार्विन ने 'डिसेंट ऑफ मैन' में यह स्वीकार किया था कि जीवन के मानव चेतना के रूप में विकसित होने में ही नैतिकी और सामाजिकता का उत्स है और यदि डैनिस ड्यूटन तथा सूसन लैंगर की माने तो उसी में कलात्मक सृजन का भी। मानवेन्द्रनाथ राय तो समस्त मानवीय क्रियाशीलता को जीवन के सम्पोषण अर्थात् जिजीविषा का ही विस्तार मानते हैं। स्वतंत्रता और सर्जनात्मकता जैसे मूल्य, राय के अनुसार, अस्तित्वगत मूल्य हैं क्योंकि ये मनुष्य की विकास प्रक्रिया से अविच्छिन्न है। राय के ही शब्दों में "स्वतंत्रता की तलाश बुद्धि और भावना के उच्च स्तर पर आस्तित्व के लिए जैविक संघर्ष का ही नैरन्तर्य है।" उनकी दृष्टि में नैतिक होने का आधार भी जैविक विकास – प्रक्रिया में ही अन्तर्निहित है। डार्विन मनुष्य की विकास यात्राा में उसकी ईश्वरततुल्य बुद्धि के विकास के साथ उदारता और सहानुभूति जैसी भावनाओं के विकास को भी स्वीकार करता है, जो जीवन के मानव चेतना के रूप में विकसित होते जाने की प्रक्रिया में से ही उद्भूत हुई हैं। यहाँ बर्ट्रेंड रसेल की इस बात का उल्लेख प्रसंगान्तर नहीं समझा जाना चाहिए जो वह अपने एक विचारोत्तेजक निबन्ध 'विस्तारशील मनोजगत' में कहते हैं। रसेल का कहना है कि मन केवल विचार या बौद्धिक ही नहीं है, संकल्प और भाव भी विचार के साथ विकसित होने चाहिए। विवेक का अर्थ ही भाव, विचार और ज्ञान का सामंजस्य है। हमारे लक्ष्य भावों से निर्धारित होते हैं और "हमारी अन्य मानसिक क्षमताओं की भाँाति हमारे भाव भी जीवन–संघर्ष में ही क्रमशः विकसित होते गये हैं।" रसेल के अनुसार, "जैविक आवश्यकताओं ने ही दो विपरीत नैतिक पद्धतियाँ उत्पन्न की थीं – अपने से संबंधित अर्थात् मम तथा बाद्ध अर्थात् ममेतर के प्रति। लेकिन, अब ममेतर के प्रति भिन्न व्यवहार जैविक दृष्टि से हानिकारक बन गया है। समस्त मानवता के उद्देश्य सामान्य होने चाहिए पर उसके लिए भावों की सामान्यता अनिवार्य है।" वह कहते हैं कि जो नयी दुनिया अब प्रकट हो रही है, उसमें दूसरों के प्रति स्नेह का भावना केवल नैतिक कर्त्तव्य होगा बल्कि जीवित बचे रहने की अनिवार्य शर्त होगा और उसके लिए सम्पूर्ण के कल्याण की ओर प्रेरित भाव विकसित करने होंगे – यह जीवन को बचाने की अनिवार्य शर्ता है। 'सम्पूर्ण के कल्याण की ओर प्रेरित भाव' – मानवाधिकारों की संकल्पना का तात्पर्य और क्या हो सकता है। इस तरह यह कहना असंगत नहीं होगा कि मानवाधिकार की

संकल्पना ऐसा विज्ञान सम्मत भाव और विचार है जो जीवन के विकास की आगामी दिशा की ओर संकेत करती है।

इस अर्थ में कला और साहित्य भी – बल्कि सृजात्मकता भाव और विचार है जो जीवन के विकास की आगामी दिशा की ओर संकेत करती है।

इस अर्थ में कला और साहित्य भी – बल्कि सृजनात्मकता मात्र–जीवन की विकास–प्रक्रिया के ही रूप हैं – उस चेतना से प्रेरित एवं निरूपित, जो जीवन का ही रूप है। शायद इसीलिए टॉलस्टॉय ने अपने निबन्ध 'कला क्या है' में कला को मानव–जीवन की एक इन्द्रिय माना है, जो मनुष्य के विवेकयुक्त बोध को भाव में सम्प्रेषित करती है। हर्बट वीड इसीलिए कला को मानव–जाति के जीवन और प्रगति के लिए विज्ञान के बराबर महत्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं कि उसका यह एक अपूर्व धर्म ही है कि मनुष्यों को परस्पर और स्वयं जीवन के प्रेम द्वारा एक सूत्र में बांधे।

यहां इस बात की ओर ध्यान दिलाया जाना भी आवश्यक लगता है कि, सामान्यतः, मानवाधिकारों की संकल्पना को मानव–केन्द्रित मानकर ही विचार किया जाता रहा है। लेकिन, यदि हम मनुष्य को एक चेतना सम्पन्न और उत्तरदायी–प्राणी मानते हैं तो मानवोतर जीवन–जगत के प्रति उत्तरदायित्व को भी उत्तरदायित्व की उसकी संकल्पना में सम्मिलित करना होगा क्योंकि यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो यह उस धारणा का स्वीकार होगा कि श्रेष्ठ अपने से हीन के प्रति और जिम्मेदार हो सकता है। भारतीय परम्परा में तो काव्य या साहित्य के उद्भव की कहानी – क्रौं चवध – स्वयं ही यह स्पष्ट कर देती है कि मानवोतर जीवन के प्रति भी हमारा आचरण मर्यादाबोद्ध होना चाहिए। 'महाभारत' की त्रासदी का बीज पांडु को मिले उस षाप में है जो मर्यादाच्युत मृगया के कारण उसे मिलता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक यषदेव शल्य कला, साहित्य या कविता को 'भावना का आत्मविमर्श' मानते हैं क्योंकि तभी हृदय या आरोपित भाव से वह निष्कलुष शुद्ध भाव सम्भव है जो सम्पूर्ण के कल्याण का स्रोत है। यह दायित्व साहित्य–रचना पर किसी नैतिक आग्रह का आरोपण नहीं बल्कि विज्ञान सम्मत विकासवाद की दृष्टि से कला या साहित्य का अपना दायित्व है – इस युग के ऐतिहासिक दायित्व की दृष्टि से और भी आवश्यक।

जब हम कहते हैं कि मनुष्य विकास–प्रक्रिया का अद्यतन रूप है तब उसका एक मतलब यह भी होता है कि वह विकासशील चेतना है। आत्मरक्षा जीवन की सहज प्रवृत्ति है। लेकिन, चेतन्य का विकास होने पर आत्म का दायरा विस्तृत हो जाता है क्योंकि अपने तथा शेष जीवन के साथ एक तात्विक ऐक्य का भाव विकसित होता है। श्री अरविन्द जब इस विकास प्रक्रिया को अन्नमय कोष, प्राणमय कोष तथा मनोमय कोष से होते हुए

विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष की ओर उन्मुख देखते हैं तो यह प्रकारान्तर से मानव जाति की एकता का ही नहीं समग्र अस्तित्व की एकता की अनुभव–यात्रा का सन्धान कर रहे होते हैं।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा की प्रस्तावना के शुरू में ही माना गया है कि विश्व में स्वतंत्रता, न्याय और शान्ति की नींव मानव–परिवार के सभी सदस्यों की जन्मजाति गरिमा और उनके अहस्तान्तरणीय तथा समान अधिकारों की स्वीकृति है – मैं इसमें यह जोड़ना चाहूँगा कि यह मानव परिवार केवल अधिकारों का अबाध उपभोक्ता नहीं है, बल्कि मानवेतर के प्रति उत्तरदायित्व बोध भी उसके मानव होने की ही कसौटी है। इसीलिए, भारतीय दृष्टि केवल 'मानव परिवार' की बात नहीं करती; वह 'वसुधा' को कुटुम्ब मानती है जिसमें मानव न केवल शामिल है, बल्कि उत्तरदायी भी है पूरे कुटुम्ब के प्रति – यही है भारतीय संकल्पना।

EMPOWERMENT OF WOMEN, MEDIA AND HUMAN RIGHTS

DR. SUDHA MOHAN, PROFESSOR, DEPARTMENT OF CIVICS AND POLITICS, UNIVERSITY OF MUMBAI*

Dr. Sudha Mohan

We are familiar with the following words of wisdom:-

- "There is no chance of the welfare of the world unless the condition of women is improved. It is not possible for a bird to fly on one wing." - Swami Vivekananda
- How well a society treats its women is one of the strongest indicators of the success and health of a society. M. K. Gandhi
- Power can be taken, but not given. The process of the taking is empowerment in itself.Gloria Steinem.

In the 18th century the paramount moral challenge was slavery. In the 20th century, it was totalitarianism. In the 21st century, it is the (exposure) of the brutality inflicted on so many girls and women around the globe.

Not being able to provide full and equal participation of women is one of the 'unfinished businesses of the 21st century.' To illustrate this point, let us look at our electorate. Sixty percent of the Indian electorate is women, and yet when you look at how women fare in any international ranking, India fares poorly. So clearly there is some problem that democracy has not solved the emancipation and empowerment of women. It derives from the fact that much of the repression we see in India comes from society and not necessarily the state alone.

Empowerment of Women: Empowerment is defined as a process of making people animators, change-agents, by awakening them to their potential - to develop fully and to experience humanness - in the sense of being (politically) aware of the root causes of marginalisation, of being confident,

---

*Paper present in National Seminar (Cochin).

Professor, Department of Civics & Politics, University of Mumbai.

autonomous and capable of undertaking action to redress human rights violations.

Although empowerment has, in the recent years, become a buzzword, the concept has been used in many different ways. Definitions of what constitutes empowerment have ranged from the development of personal instrumental competencies and skill, to the process of challenging existing power relations, to household decision-making, to gaining access and control over resources like credit, income, land knowledge, etc, as well as to subjective variables like the sense of personal power or self-efficacy. Empowerment is therefore multi-dimensional.

In an interesting analysis of 'Empowerment', Naila Kabeer (1994) draws on Lukes' (1994) three-dimensional views of power to discuss this issue. The first dimension relates with the *power to.* This is associated with decision-making over issues where there are observable conflicts. In this dimension, power is seen as the capacity to affect outcomes. The second dimension relates with *power over,* whereby one group manages to suppress certain conflicts by denying their validity. The third dimension of power recognises that conflicts of interest may be suppressed not only from the decision-making agenda, but also from consciousness of the parties involved. Here both the dominant and the subordinate parties subscribe to accounts of social reality that deny that any inequality exists.

Empowerment takes place at different levels and that change on all levels is necessary if the empowerment of women is really to occur. It relates primarily to three levels: empowerment on the individual, group, and societal/community- level and the interaction among these. (Mohan 2006).

The *individual level* deals with individual women's abilities to take control over their lives, their perceptions about their own value and abilities, their abilities to identify a goal and work towards this goal.

The *group level* deals with the collective action and sense of agency that woman experience together, in a group.

The *societal level* deals with the nature of the political and social processes, the societal norms and the public discourse on the ways in which gender is constructed.

The different levels are seen as interconnected and mutually reinforcing, e.g. when empowerment on individual level occurs, this will have effect on the group and societal level.

It thus involves claiming parity, equality, equity "instead of waiting for others to provide it" (Hall 1992). Hence "it can be used for social mobilization, changing women's State of mind, and gaining access to the bases of social power" (Friedman1992). That is why, empowerment is a collective process. The empowering process does, therefore, entail (re) generation of courage and confidence to take on challenges, contextualization of collective pursuit of any desired goal and sustenance of a more powerful challenge to discriminatory structures, detrimental to the attainment of greater results and (more) positive results. Hence action for gender equality does largely depend on empowerment of women, which is "equitable access to resources, power, and decision-making". Women empowerment requires a realignment of power, decision making at the household, institutional and all levels of society.(Hust 2004).

Women who are empowered on an individual level will most likely go on and affect the other levels. Thus gender equality implies a society in which women and men enjoy the same opportunities, outcomes, rights and obligations in all spheres of life. A critical aspect of promoting gender equality is the empowerment of women, with a focus on identifying and redressing power imbalances and giving women more autonomy to manage their own lives. Women's rights and her empowerment are vital to sustainable development and the realisation of human right for all. As Hillary Clinton claimed "Let it be that human rights are women's rights, and women's rights are human rights, once and for all."

Constitutional and Legal Provisions for Women in India

The principle of gender equality is enshrined in the Indian Constitution in its Preamble, Fundamental Rights, Fundamental Duties and Directive Principles**.** The Constitution not only grants equality to women, but also empowers the State to adopt measures of positive discrimination in favour of women. Within the framework of a democratic polity, our laws, policies, Plans and programmes have aimed at women's advancement in different spheres. Fundamental Rights, among others, ensure equality before the law and equal protection of law; prohibits discrimination against any citizen on

grounds of religion, race, caste, sex or place of birth, and guarantee equality of opportunity to all citizens in matters relating to employment. Articles 14, 15, 15(3), 16, 39(a), 39(b), 39(c) and 42 of the Constitution are of specific importance in this regard.

Constitutional Privileges include the following:-

1. Equality before law for **women (Article 14)**
2. The State not to discriminate against any citizen on grounds only of religion, race, caste, **sex**, place of birth or any of them **(Article 15 (i))**
3. The State to make any special provision in favour of **women** and children **(Article 15 (3))**
4. Equality of opportunity for all citizens in matters relating to employment or appointment to any office under the State **(Article 16)**
5. The State to direct its policy towards securing for men and **women** equally the right to an adequate means of livelihood **(Article 39(a));** and equal pay for equal work for both men and **women (Article 39(d))**
6. To promote justice, on a basis of equal opportunity and to provide free legal aid by suitable legislation or scheme or in any other way to ensure that opportunities for securing justice are not denied to any citizen by reason of economic or other disabilities **(Article 39 A)**
7. The State to make provision for securing just and humane conditions of work and for maternity relief **(Article 42)**
8. The State to promote with special care the educational and economic interests of the weaker sections of the people and to protect them from social injustice and all forms of exploitation **(Article 46) T**he State to raise the level of nutrition and the standard of living of its people **(Article 47).** Promote harmony and the spirit of common brotherhood amongst all the people of India and to renounce practices derogatory to the dignity of **women (Article 51(A) (e))**

9. Not less than one-third (including the number of seats reserved for **women** belonging to the Scheduled Castes and the Scheduled Tribes) of the total number of seats to be filled by direct election in every **Panchayat** to be reserved for women and such seats to be allotted by rotation to different constituencies in a **Panchayat (Article 243 D(3))**

10. Not less than one- third of the total number of offices of Chairpersons in the **Panchayats** at each level to be reserved for **women (Article 243 D (4))**

The Status of Women in India

Women form about half of the population of the country, but their situation has been grim. For centuries, they have been deliberately denied opportunities of growth in the name of religion and socio-cultural practices. Not-withstanding the remarkable changes in the position of women in free India, there is still great divergence between the constitutional position and stark reality of dispossession and deprivation. Some of the very fundamental concerns remain largely ignored. On the one hand, urban women in India have progressed and achieved great height in several fields even in an inherently patriarchal male-dominated society. However, on the other hand, there are still several overt and covert forms of discriminations. It is also important to point out that though domestic violence, rape and molestation, dowry deaths and female foeticide, for example, do get a public notice and voice, we must bear in mind that there also exists a significant group of women in the 'other' India whose stories of suffering and struggle is hard to find space in the media, driven as it is by market economics in the neo liberal structure.

The abuse of women and girls is the most pervasive and unaddressed human rights violation on earth. Women's inequality has profoundly affected our world. Scholarly studies have shown that about 160 million women are not living because girls are less valued. A rape is reported every 22 minutes with few convictions or punishment of those who attack omen. There is no country on earth where discrimination against women and girls does not exist in some form. "Promoting gender equality and women's empowerment is not solely a plea for justice or for fulfilling human rights commitments. It is both of those things, but also so much more," Michelle

Bachelet said in her opening statement to the annual session of the Executive Board of the UN Entity for Gender Equality and the Empowerment of Women. (June 27, 2011). "Where we fail to capitalize on the potential and talents of one half of the population, we also squander the potential to reduce poverty, hunger, disease, environmental degradation and violence," she stated.

It is interesting but also very regrettableto note that though India issignatory to the Convention on Elimination of DiscriminationAgainst Women, 1995 and NFLS (Nairobi Forward Looking Strategy), in which Empowerment through communication media is given top priority, only recently after dreadful spate of violence against women that we have devised policies to deal with heinous forms of violence against women.

Thus, according to Trust Law, a news service run by Thomson Reuters, has ranked India as the worst G20 country in which to be a woman. The Nobel Prize-winning economist Amartya Sen has estimated that more than 100m women are "missing" worldwide - women who would have been around had they received similar healthcare, medicine and nutrition as men.The 2011 census found that there are 940 women for every thousand men and this national figure hides significant national discrepancies. India, the world's largest democracy, has a mere 11.4 percent woman in both houses of Parliament, compared to the world average of 21.8 percent. Afghanistan has 27.6 percent women in Parliament and Pakistan 18.5 percent, according to Geneva-based Inter-Parliamentary Union (IPU) 2014 data.

At the International level, the Charter of United Nations Endorsement of the equal rights of men and women and the subsequent International Treaties and Declarations, the Vienna Declaration in 1993 and Declaration of Beijing in 1995 stands in 2002 as a sharp contrast to the reality of the life for millions of women worldwide. It is painful to note that women all over the world have been denied complete justice, social, economic and political status. The resulting inequalities are both structural and historical.

For instance take poverty. It is therefore significant to state that extreme poverty is 'female'. This trend is typical not just in India as world figures indicate these trends. For instance, 'Women make up half the world's population and yet represent a staggering 70% of the world's poor, 70% of the world's working hours and earn only 10% of the world's income and half of

what men earn (United Nations 2010). This leads to greater poverty, slower economic growth and a lower standard of living. In developing countries, millions of women also die each year as a result of gender-based violence. Thus, despite many international agreements affirming their human rights, women are still much more likely than men to be poor and illiterate. They usually have less access than men to medical care, property ownership, credit, training and employment. They are far less likely than men to be politically active and far more likely to be victims of domestic violence. Coming to the media how can women break gender based stereotypes to minimise discrimination and reduce gender based violence when they are trapped in societies with socio-cultural practices which routinely discriminate them from having equal opportunities in education, health and livelihood? These women are invisible and the obstacles in their way prevent them from accessing the most basic human rights and needs. I strongly believe and would also advocate the fact that Communication is one of the widely recognized factors of democracy. The relevance of mass media in the social transformation and social change has to be recognized.

Media and Gender in India: India has a total of 86,754 registered newspapers and magazines (*Registrar of Newspapers in India Report 2011-2012*). We have about **410 News and Current Affairs and 438 Non-News and Current Affairs television channels as on 2013. Out of these about** 40 news channels are in Hindi alone. **(*Ministry of Information and Broadcasting information report*) and there is also a growing advertisement industry and new media network in the post-liberalization period since the 1990s.**

Despite a mushrooming media industry, Gender equality in the media has always been an important, yet elusive, goal. There is much discussion of the "feminisation" of the Indian media and there can be no denying that the presence of women has registered a sharp rise. The Global Media Monitoring Project (GMMP) in its 2010 report, 'Who Makes the News?' (2010) monitored 1,365 newspapers, television and radio stations and Internet news sites all over the world. In India, it found that female reporters are currently responsible for 37 per cent of stories generated, compared to 28 per cent 15 years ago. Only 5 per cent of the news stories highlighted gender equality or inequality, again marginally less than the global figure (6 per cent).Nearly two thirds (63 per cent) of the news stories from the Indian media that were

analysed reinforced gender stereotypes while only 9 per cent challenged them. In contrast, globally less than half (46 per cent) of the news stories reinforced stereotypes. The reconstruction and representation of Gender issues is dealt within patriarchal discourse of the media is evident.

Though it is heartening to note that women are no longer missing from the Indian media, whether as media professionals or as subjects or even sources of news. Even if "symbolic annihilation,' resulting in the absence of women from the news pages, was the problem a couple of decades ago, the media are now replete with images of and reference to women. The question today is not so much 'where are the women? But 'who are these women?' and 'when, where, how and why do they appear?" (Joseph and Sharma, 2006).

However, Globalization and neo-liberal economy and the so-called new media, creates opportunities not for all women, as only a certain section of women enjoy the fruits of open economy. It is the exigency of the privatisation and the new middle class that they consciously require an image of new Indian. Various methods are applied to construct this project; advertisement is one of them. Market economy has promised equitable distribution of resources and equal opportunity, but their operation tells the opposite story. However, it must be mentioned that increasingly newer digital and social media platforms are giving women a voice in their own defence. In some countries, social media are providing an effective platform for women's rights. It is imperative to look at what the media must focus. Women's issues need to be dealt with not just as gender issues but as an integral part of development concerns and processes. Proactive media participation in women empowerment is the need today, going beyond mere coverage of incidents to larger issues on a regular basis (Mathur, 2013).

There are also other important organisations that map, study, fund, examine and project gender related issues and women's rights. A few listed below have been pro-active in their role. For example, *Association for Women's Rights in Development; Human Right (HR) Watch; International Federation for HR; International HRs Network; Forefront; World Organisation Against Torture; HR Education Associate; HR Housing Network; HR Information and Documentation Systems; HR Internet; New Tactics in HR and The Global Media Monitoring Project (GMMP) is the world's longest-running and most extensive research on gender in the news media.*

Empowerment through Participation and mobilisation in India: Brief Case Studies of Three Women's Organisations:

In India, Rural women have taken the lead in contemporary battles too. The two cases that follow exemplify how collective mobilisation of women can be both bottom up and top down without much media attention to either initially. It proves that the narrative of empowerment can be a kind of silent revolution occurring at the local level, but with consequences that are both immediate as well as far reaching. Media's 'civic' thrust also remains exposed for it evidently proves that unless an event or issue is 'city-based, directed by the middle-class with emphatic middle class concerns, the media pays scant attention and its role is minimal. However, it is also interesting to note the re-charged role of the media when the women's initiatives assume critical mass. The same 'ignored' groups get more coverage as they become more newsworthy and noteworthy. The two cases that follow also had a to face similar treatment with regard to the media, both print and visual.

The Gulabi Gang is an extraordinary women's movement formed in 2006 by Sampat Pal Devi in the Banda District of Uttar Pradesh in Northern India. This region is one of the poorest districts in the country and is marked by a deeply patriarchal culture, rigid caste divisions, female illiteracy, domestic violence, child labour, child marriages and dowry demands and dowry deaths. The women's group is popularly known as Gulabi or 'Pink' Gang because the members wear bright pink saris and wield bamboo sticks. They claim "We are not a gang in the usual sense of the term, we are a gang for justice" (Sen 2012).

This all-women's vigilante organization estimated to have around 20,000 members, he gang has fought corrupt politicians and crooked police officers as well. It also runs vocational centres that empower women. Gulabi Gang also has several male supporters and many successful interventions to their credit. Whether it is ensuring proper public distribution of food-grains to people below the poverty line, or disbursement of pension to elderly widows who have no birth certificate to prove their age, or preventing abuse of women and children, the Pink sisterhood is in the forefront, bringing about system changes by adopting the simplest of methods - direct action and confrontation. Although the group's interventions are mostly on behalf of women, they are increasingly called upon by men to challenge not only male authority over women, but all human rights abuses inflicted on the weak.

The media has accentuated the fact that the Gulabi Gang sometimes uses violence and has taken to calling them 'vigilantes', as opposed to a social movement. The portrayal of the Gulabi Gang solely as vigilantes through the media has led to the question of whether or not, in addition to a social movement, they can also be constituted as vigilantes. The media accounts of the Gulabi Gang have tended to focus on their vigilante activities, which is one reason that they are not thoroughly explored as a social movement, and it also diminishes the inestimable untold resistance against gender and caste discrimination that is enacted throughout India every day (Sen, 2012).

Kudumbashree Kerala's neighbourhood network is an inspiring story of social and economic empowerment of Indian women. In this context it would be appropriate to mention that this was/is a state directed model of development with the mission "Reaching out to families through women and reaching out to community through families". *'Kudumbashree' is* the state poverty eradication mission initiated by the government of Kerala. (Bhattacharyya, Dwaipayan 2011). Kudumbashree aims to enhance women's economic development and enable women to become 'active citizens'. The programme has been largely successful in terms of the numbers of women involved, their levels of engagement with the local state, and their increased ability to save money and access subsidised credit (Heller, 2006).

Kudumbashree operates through female-only Neighbourhood Groups, which aim to contribute to their participants' economic uplift, and to integrate them with the activities and institutions of local governance. (Devika 2007) Today 3.6 million women participate in the *Kudumbashree* movement in the state cutting across political ideologies and religious faiths. Through the Community Development Society (CDS) system 36 lakh women of State have been organized into 1,82,969 grass root level Neighbourhood groups (Kudumbashree, 2014).

Apart from thrift mobilisation and informal banking, the CDS structure has given birth to 29,436 vibrant microenterprises. The microenterprise model of *Kudumbashree* provides a classic example of a tripartite linkage model. The functioning of enterprises is made possible due to the strong linkages created in the *Kudumbashree* network of community, state and financial organizations facilitated through the state.

The two case studies is indicative of the fact that empowerment can be ignited from below from members of the aggrieved group or can be a deliberate policy design by the state and introduced with earnestly from above. Mainstream media engagement is any issues relating to women have been found to be reactive. This applies in the case of these two initiatives discussed above. The media only mediated and projected the struggle of the Gulabi Gang when it assumed the proportion of a radical movement supported by a large number of women. However had the media been more pro-active, it would have steered a debate on condition of women of women in UP. In the case of Kudumbashree, the actual positive change brought about at the local and state level in Kerala prompted the media to take it more seriously. The value of its replicability in other states prompted the media to look at this case with seriousness.

I truly believe that we must focus our attention on the following for a more comprehensive and nuanced understanding of this complex multifaceted issueat the societal level and to develop sustainable and viable policy for true empowerment from the state.

Way forward: Need for a more nuanced understanding

- *A spotlight on rights:* by different constituencies - movement based organisations, civil society groups and academic and research based organisations - also helped shape an identity for the women and her empowerment with a coherent, recognizable social movement that can serve as an interlocutor of the state and public policy. Women's movements meaningful engagement with the state is also of prime importance for only with a synergetic partnership can issues of empowerment be woven into sensitizing and engendered public policy.

- *Knowledge building:* Building knowledge on Women's rights as equal citizens, Gender Justice, Reproductive rights in not just in the formal-constitutional sense of the term but also in the everyday politics of life and living and its incorporation into formal education is an important critical dimension.

- *Women's human rights and the right to bodily integrity and freedom from violence:* Violence against which cuts across caste, class,

ethnicity and other forms of social division. Research on violence, legal activism to get laws and public policy into place, and to get help and support to victims, along with campaigns to insert this issue into the broader human rights agenda both nationally and internationally is very important.

- ***Equal leadership:*** Women are denied a voice in the decisions that affect their lives. The best way to transform this condition is to provide leadership positions for women: from village councils to parliaments. In her study, Jayal (2006) argues that women have played an affirmative role in addressing a variety of practical gender needs. Other studies Ban and Rao (2006) have also shown how that when women becomes leaders in their local community, they transform the development agenda—focusing on water, sanitation, health, education and nutrition, and combating corruption, social exclusion and domestic violence.

- *Economic rights, poverty and the right to social protection:* A key concern in the debates on empowerment is poverty and the lack of social rights for marginalized groups. The lack of economic and social rights and the resultantconsequences for citizenship and participation in particular and democracy in general must be acknowledged and acted upon more sincerely and effectively. An insightful account of this is examined in *Collins, et al (2009) book Portfolios of the Poor. It* shows how women need credit not only for starting or supporting small enterprises, but also for coping with great seasonal fluctuations in family income. Poor women often juggle multiple loans at usurious rates just to survive. It is evident in several studies that that when women control money, it is far more likely to be invested in the health, nutrition and education of children than when men control the money.

- ***Education and Functional adult literacy:*** Millions of women have never had the opportunity of formal education. Women are twice as likely to be non-literate as men. Literacy is more than skill acquisition; it is the reclamation of autonomous selfhood and agency (Duflo, 2012). Education can have a range of benefits within the households with short as well as long term advantages.

- *Access to justice:* To be equal before the law and to have access to the institutions of the law in seeking justice are fundamental to democratic understanding of citizenship. However, the experience of most marginalized groups is that they have little or no access to such institutions. For women, lack of access is compounded by their gender identity. But it is also affected because culturally prevalent ideas of what it is to be a man or women are constitutive of the laws, their practice and processes.

There is a plea to above mentioned concerns because gender equality and women's rights are key to addressing the unfinished business of the Millennium Development Goals (MDGs) and accelerating global development beyond 2015. Thus, the post-2015 framework recommended by the UN High Level Panel on the Post-2015 Development Agenda (HLP); The Organisation for Economic Co-operation and Development (OECD, 2013) emphasises that retaining a strong, stand-alone goal on gender equality and women's empowerment that include gender-specific targets and indicators in the other goals. For example a strong post-2015 framework will take a holistic view of gender inequalities addressing girls' completion of a quality education, women's economic empowerment, universal access to sexual and reproductive health and rights, ending violence against women and girls, women's voice, leadership and influence, women's participationin peace and security, and women's contributions to environmental sustainability.

The new framework will need to confront the discriminatory social norms and practices that underlie gender inequality, such as early marriage or tolerance of violence against women.

The Post-2015 Development Agenda for Women's Empowerment must:

1. Prioritise gender equality and women's human rights. (OECD 2014)
2. Ensure meaningful participation of women's and social movements in the design, delivery, monitoring and evaluation of development policies and programs.
3. Use the human rights architecture as its basis and include concrete means of implementation that prioritize public financing over public-private partnerships in order to realise states obligation to allocate the maximum availability of resources.

4. Promote innovative, democratic financing mechanisms, including long-term, flexible support for civil society organizations, including women's organizations.
5. Recognize that there are ecological limits to the 'growth' paradigm and that sustainable development must be safeguarded from Corporations that prioritise profit over all.
6. Sensitisation of the Media, Police and Security Forces.
7. Urgently reform monetary, financial and trade rules globally in line with human rights obligations, that ensure policy space at the national level to implement macroeconomic policies, trade and investment agreements to achieve gender and social justice.
8. Re-orient national agricultural plans from extractive industries and export-oriented agribusiness toward local women-led and small-holder agro-ecology practices.
9. Include strong protection of local free seed supply and distribution systems in order to reverse the environmental and social impacts caused by food insecurity, soil degradation and land grabbing, on all affected communities including migrants, fisher, forest and indigenous peoples, pastoralists, and many other marginalized communities.
10. Eliminate all forms of discrimination and violence and specific attention is also needed to address the violence faced by women human rights defenders, sex workers, and women working in conflict and militarized contexts, among others.

We MUST seriously address, acknowledge, implement and follow up these 10 point programmes because ***"When women are empowered, nation is empowered."*** *Apart from that I strongly believe that we MUST interrogate media discourse and the need to change that narrative as well.* Unless and until these major and critical issues of empowerment are dealt with in the political domain, taken up as serious matters that require legal recourse in the most free, fair and equal manner and supported sensitively by the media highlighting the cause with utmost sincerity and concern, we would only keep debating without much co-related action.

I am reminded a song composed by Bharathiyar, the Tamil Poet in 1910 on the emerging women.It is so relevant and resonates even after 114 Years....He stated:

She walks with raised head, with her eyes looking straight; she has her principles, Unafraid of anybody! She has a lofty and knowledge based pride. Such cultured women don't falter from the chosen path. She drives ignorance away. She welcomes the bliss of life. With earned mind, this is the Dharma Of emerging woman.

REFERENCES

- Ban Radu and Rao Vijayendra. (2006). *Tokenism or Agency? The impact of Women's Reservations on Panchayats in South India*. Available at https://editorialexpress.com/cgi bin/.../download.cgi?db...id
- Bhattacharyya ,Dwaipayan et el (2011).Performing Participatory Citizenship – Politics and Power in Kerala's Kudumbashree Programme. *The Journal of Development Studies.* Vol.47:1261-1280.
- *Collins Daryl, J. Morduch, S.* (2009). *Rutherford and O Ruthven, Portfolios of the Poor.*Princeton University Press.
- Devika, J. and Thampi, B.V. (2007). 'Between Empowerment and 'Liberation': the Kudumbashree initiative in Kerala'. *Indian Journal of Gender Studies Vol.*14 (1): 33-60.
- Duflo Esther. (2012). Women Empowerment and Economic Development.*Journal of Economic Literature*. Vol. 50(4): 1051–1079.
- Friedman, John. (1992).*Empowerment: The Politics of Alternative Development*. Cambridge: Blackwell.
- Global Media Monitoring Project Report (2010) Available at http://www.osservatorio.it/download/highlights_en.pdf
- Hall, Margaret, C. (1992). *Women &Empowerment : Strategies for Increasing Autonomy*. Bristol : Hemisphere.
- Hust, Evelin. (2004). *Women's Political Representation and Empowerment in India: A Million Indras Now*. New Delhi: Manohar Publications.
- Inter-Parliamentary Union (2014) Available at http://www.ipu.org/pdf/publications/wmnmap14_en.pdf

- Jayal Niraja Gopal .(2006). ′Engendering Local Democracy: the impact of Quotas for Women in India's Panchayats′. *Democratization*.Vol.13(1), February:15–35.
- Joseph Ammu and Sharma Kalpana.(2006). *Whose News: The Media and Women's Issues*.2nd edition.New Delhi: Sage Publications India Pvt Ltd. p. 24.
- KabeerNaila. (2005). `Gender Equality and Women's Empowerment: a Critical Analysis of the Third Millennium Development Goal`.*Gender and Development*.Vol. 13(1).*Kudumbashree* website: www.kudumbahsree.org
- Lukes, Steven. (1994) *Power: A Radical View*. London: Macmillan Press.
- Mathur, Goswami. (2013).Indian Women through the Media Lens. *Virginia Review of Asian Studies*.Vol. 15, October.
- Michelle Bachelet (June 27, 2011). Availble online at http://www.unwomen.org/en/news/stories/2011/6/introductory-statement-by-michelle-bachelet-at-the-annual-session-of-the-un-women-executive-board.
- Mohan Shantha (et al). (2004). Women and Political Participation in India, Baseline Report.*International Women's Rights Action Watch Asia Pacific*.Malaysia.
- Mohan Sudha. (2006), Participation and Partnership for Change: Economic Empowerment and Social Engagement.*Human Rights Global Focus*, December.
- The Organisation for Economic Co-operation and Development (OECD) (2013). Beyond the Millennium Development Goals: Towards an OECD contribution to the post-2015 Agenda. Also *OECD and Post-2015 Reflections Series*, Paris : OECD Publishing and Unfinished Business – Women and Girls Front and Centre Beyond 2015, Paris: OECD Publishing. Available at http://www.oecd.org/development/stats/aidinsupportofgenderequalityandwomensempowerment.htm

- The Organisation for Economic Co-operation and Development (OECD 2014). Gender Equality and Women's Rights in the Post-2015 Agenda: a Foundation for a sustainable Development http://www.oecd.org/dac/POST-2015%20Gender.pdf
- Sen, Atreyee. (2012). "Women's Vigilantism in India: A Case Study of the Pink Sari Gang." Online Encyclopedia of Mass Violence, December 20, 2012. http://www.massviolence.org/Article?id_article=574.
- UN: The World's Women 2010: Trends and Statistics (2010), Available at https://unstats.un.org/unsd/demographic/products/Worldswomen/WW2010pub.htm

वैश्वीकरण के सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भ*

माधव हाड़ा

विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं और संस्कृतियों का मेल और एकरूपीकरण वैश्वीकरण है, जिसकी शुरुआत पंद्रहवीं सदी में उस समय हुई, जब कुछ साहसी यूरोपीय व्यापार की मंशा से नए देशों की खोज में निकले। वैश्वीकरण का पहला चरण 1492 में कोलंबस की नयी और पुरानी दुनिया के बीच व्यापार का मार्ग प्रशस्त करने वाली यात्रा से शुरू होकर 1800 तक चलता है। इसने दुनिया को सिकोड़ कर बड़ी से मध्यम आकार में बदल दिया। इस चरण में ग्लॉबल एकीकरण की चालक शक्ति देशों की ताकत मतलब बाहुबल, वायु शक्ति और बाद में वाष्प शक्ति को सर्जनात्मक ढंग से प्रयुक्त कर फैलाने की सामर्थ्य थी। विश्व को एक साथ गूंथकर ग्लॉबल एकीकरण का काम इस दौरान देशों और सरकारों ने किया। वैश्वीकरण का दूसरा चरण 1800 से शुरू होकर 2000 में समाप्त हुआ, लेकिन यह पहले और दूसरे महायुद्ध के अवसाद से अवरुद्ध हुआ। इस चरण में ग्लॉबल एकीकरण की चालक शक्ति बहुराष्ट्रीय कंपनियां थीं। श्रम और बाजारों की तलाश में ये कंपनियां ग्लॉबल हुईं। इस चरण के पूर्वार्द्ध में ग्लॉबल एकीकरण की प्रक्रिया को परिवहन की लागत कम हो जाने से बल मिला, जो भाप के इंजिन और रेल–मोटर के कारण संभव हुआ। इस चरण के उत्तरार्द्ध में ग्लॉबल एकीकरण की प्रक्रिया दूर संचार की कीमतें गिर जाने से द्रुत हुई और यह तार, टेलीफोन, पर्सनल कंप्यूटर, सैटेलाइट, फाइबर ऑप्टिक केबल और वर्ल्ड वाइड वेब के आरंभिक संस्करण के विस्फोटक प्रसार से संभव हुआ। दुनिया इस चरण में मध्यम से छोटे आकार में तब्दील हो गई। इस चरण में ग्लॉबल अर्थव्यवस्था का जन्म भी हुआ। यह इस अर्थ में कि अब सूचनाओं और वस्तुओं का एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पर्याप्त मात्रा में यह संचलन हो रहा था। वैश्वीकरण की प्रक्रिया में वर्ष 2000 मील का पत्थर साबित हुआ। विख्यात पत्रकार और द वर्ल्ड इज फ्लैट नामक बहुचर्चित किताब के लेखक थॉमस एल. फ्रीडमेन के अनुसार इस वर्ष से वैश्वीकरण का तीसरा महान चरण शुरू होता है। पहले चरण के वैश्वीकरण में चालक शक्ति ग्लॉबल होते हुए देश थे, दूसरे चरण के वैश्वीकरण में चालक शक्ति ग्लॉबल होती हुई बहुराष्ट्रीय कंपनियां थीं, जबकि इस तीसरे चरण में वैश्वीकरण की चालक शक्ति व्यक्तियों को ग्लोबल स्तर पर सहभागी और प्रतिद्वंद्वी होने की नयी सुलभ ताकत है। व्यक्तियों और समूहों को विश्व स्तर पर सहभागी और प्रतिद्वंद्वी होने में सक्षम बनाने का

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (उदयपुर) में पढ़ा गया आलेख

#प्रोफेसर एवं अध्यक्षः हिन्दी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

काम अब हॉर्सपॉवर या हार्डवेयर नहीं, सॉफ्टवेयर कर रहा है, जिसने ग्लॉबल ऑप्टिक फाइबर नेटवर्क के साथ जुड़कर विश्व के तमाम लोगों को निकटस्थ पड़ोसी बना दिया है।

वैश्वीकरण में मुक्त बाजार की निर्णायक भूमिका है। बाजार के जादू की अवधारणा नयी नहीं है। आधुनिक अर्थ व्यवस्थाओं के जनक कहे जाने वाले एडम स्मिथ ने लगभग 250 साल पहले अपनी विख्यात किताब दी वेल्थ ऑफ नेशन्स में खरीदने वालों और बेचने वालों की समानता को आधार मानकर बाजार को मनुष्य और देशों की आर्थिक समृद्धि की कुंजी सिद्ध किया था। मुक्त बाजार के समर्थन में आज भी यही तर्क दिया जा रहा है। स्मिथ का मुक्त बाजार सीमित था, लेकिन अब यह बहुत व्यापक हो गया है। गत सदी में हुई संचार क्रांति और ब्रेटनवुड्स समझौते के ढह जाने के बाद बाजार पूरी तरह मुक्त और गतिशील हो गया है। कंप्यूटर, फाइबर ऑप्टिक्स, सैटेलाइट्स और इलेक्ट्रोनिक उत्पादों के लघुकरण से सामग्री और सेवाओं के उत्पादन, वितरण और विक्रय में क्रांतिकारी बदलाव आए हैं। बाजार के निर्णायक और सर्वोपरि हैसियत में आ जाने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण ग्लॉबल अर्थव्यवस्था में आया संरचनात्मक परिवर्तन है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रेटनवूड्स में 44 देशों में विश्व व्यापार और मुद्रा परिवर्तन के लिए जो समझौता हुआ, वो 1980 के आसपास ब्रिटेन और अमरिका में मुक्त बाजार समर्थक सरकारों के उदय और बाद में रूस में राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था के बिखर जाने से ढह गया। अब यहां की अर्थव्यवस्थां राज्य के नियंत्रण से मुक्त हो गईं। यहां कंपनियों को उत्पादन की लागत कम करने और निवेशकर्ताओं को अधिकतम लाभांश देने के लिए विश्व में कहीं भी जाने की छूट मिल गई। आगे चलकर भारत सहित विश्व के कई और देशों ने भी यही रास्ता अख्तियार किया। 1997 में पूर्वी एशियाई देशों की अर्थव्यवस्थाओं के ढह जाने और इन दिनों आई विश्वव्यापी मंदी से ग्लॉबल और मुक्त बाजार के संबंध में कुछ लोगों में यह समझ बनी है कि इसमें सब कुछ वैसा नहीं है, जैसा अपेक्षित था, लेकिन इसके ज्यादातर उत्साही समर्थक इसकी सफलता के संबंध में अभी भी आश्वस्त हैं।

वैश्वीकरण और उसमें बाजार की सर्वोपरि नियामक हैसियत का संस्कृति सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। विश्व संस्कृति में होने वाले ये परिवर्तन आश्चर्यजनक, महत्त्वपूर्ण और विरोधाभासपूर्ण है और ये सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों तरह के हैं। वैश्वीकरण के दूसरे दौर मे ऐसा लगने लगा कि इसके कारण संस्कृति एकरूपीकरण हो रहा है। यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि विश्व भर सदियों के अनुभव से अर्जित और सुरक्षित सांस्कृतिक वैविध्य कुछ हे समय एकरूप होकर केवल अमरिकी हो जाएगा। यह कहा गया कि वैश्वीकरण का अमरिकी चेहरा होगा, अमरिकी शक्ल–सूरत होगी था अमरिकी स्वाद होगा। कुछ हद तक यह बात सही भी थी लेकिन वैश्वीकरण के अंतिम चरण में व्यक्तियों और समूहों को विश्व स्तर पर सहभागी और प्रतिद्वंद्वी होने की जो नयी ताकत

मिली है उससे वे अपनी अलग–अलग संस्कृतियों को पोषित करने में सक्षम भी हुए हैं। अपलोडिंग, पॉडकास्टिंग आदि की नयी सुविधाओं से अब लोग अपने ही परिवेश रहकर अपने सांस्कृतिक रूपों को विश्व के समतल मंच पर रख रह हैं। कुछ लोगों ने अब इसे एकरूपीकरण या अमरिकीकरण के बजाय स्थानीय का वैश्वीकरण कहना शुरू कर दिया है।

वैश्वीकरण से संभव संचार क्रांति और मीडिया विस्फोट से सांस्कृतिक उत्पादों के उपभोग की कामना को से पंख ल गए है। बाजार इसका जमकर फायदा उठा रहा है। उसने संस्कृति को उद्योग में तब्दील कर दिया है। विश्व भर में सांस्कृतिक उत्पादों का व्यापार 1980 के बाद तेजी से बढ़ रहा है। विकासशील देशों में बढ़ोतरी की यह दर सबसे अधिक है। 1980 में यहां इनका व्यापार मूल्य लगभग 50 अरब डालर था, जो 2007 में बढ़कर 200 अरब के आसपास पहुंच गया था। फिक्की–केपीएमजी ने अपनी रिपोर्ट में मीडिया क्षेत्र में बढ़ते कारोबार और विज्ञापन खर्च में तेजी से आते सुधार के बाद भारतीय मीडिया और मनोरंजन उद्योग की औसत सालाना वृद्धि 14 प्रतिशत रहने का अनुमान लगाया है। इस उद्योग ने वर्ष 2010 के दौरान पिछले वर्ष के मुकाबले 11 प्रतिशत बढ़ोतरी दर्ज की है। रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 2010 में यह 652 अरब रुपये का उद्योग बन गया है। अनुमान है कि 14 प्रतिशत की सालाना दर से बढ़ कर 2015 में यह उद्योग 1275 अरब रुपए का हो जाएगा। खास बात यह है कि इसमें भी टेलीविजन उद्योग की वृद्धि दर सबसे ज्यादा 15.5 प्रतिशत है। अनुमान है कि यह 16 प्रतिशत की दर से बढ़ कर 2015 में य 630 अरब रुपए का हो जाएगा, जो संपूर्ण मनोरंजन उद्योग का आधा और प्रिंट मीडिया का दोगुना है।

साहित्य भी एक सांस्कृतिक उत्पाद है इसलिए उद्योगीकरण और तीव्रगति संक्रमण तथा एकरूपीकरण का उस पर गहरा और व्यापक असर हुआ है। उद्योगीकरण के मामले में अभी इसमें असमंजस है, इसलिए अन्य सांस्कृतिक उत्पादों की तुलना में बाजार में यह कोई खास जगह नहीं बना पाया है। एक और खास बात इसके संबंध में यह है कि तमाम परिवर्तनों के बाद भी इसका आवयविक संगठन बहुत पुराना है, जो तीव्र गति सांस्कृतिक संक्रमण और एकरूपीकरण के साथ तालमेल बिठाने में पिछड़ रहा है। इस कारण या तो यह हाशि, पर है या फिर यह अपने को बदलने की जद्दोजहद में लगा हुआ है। संस्कृति के उद्योगीकरण की प्रक्रिया से पारंपरिक साहित्य में जबर्दस्त बेचैनी है। आरंभिक आंशिक प्रतिरोध के बाद थोडे असमंजस के साथ इसमें बाजार की जरूरतों के अनुसार ढलने की प्रक्रिया की शुरुआत हो गई है। साहित्य को उत्पाद मानकर उसकी मार्केटिंग हो रही है। इसका नतीजा यह हुआ कि साहित्य की घटती लोकप्रियता के बावजूद पिछले कुछ सालों से भारत में भी पुस्तकों की ब्रिक्री में असाधारण वृद्धि हुई है। एक सूचना के अनुसार यहां 70 हजार पुस्तकें प्रतिवर्ष छपती हैं और ये 10 से 12 प्रतिशत

सालाना की दर से बढ़ रही हैं। साहित्य भी अब साबुन या नूडल्स की तरह उत्पाद है, इसलिए इसकी मार्केटिंग के लिए फिल्म अभिनेताओं का सहारा लेने की बात की जा रही है। मीडिया में चर्चित और विख्यात होने के कारण सलमान रश्दी, विक्रम सेठ और अरुंधती राय की किताबें तेजी से लोकप्रिय हुई हैं। यह मार्केटिंग का ही कमाल है कि विक्रम सेठ को उनकी गैर औपन्यासिक कृति टू लाइव्स के लिए बतौर अग्रिम 13 लाख पाउंड दिए गए। साहित्यिक किताबों की मार्केटिंग के लिए अब नई–नई रणनीतियां ईजाद की जा रही हैं। अब कई वेबसाइट्स हैं, जो किताबें खरीदने के लिए पाठकों को प्रलोभन देती हैं। हिंदी में भी अब किताब को कमोडिटी का दर्जा दिया जा रहा है और हिंदी प्रकाशन व्यवसाय का कारपोरेटराइजेशन हो रहा है। यही नहीं, हिंदी के प्रकाशक अब प्लेयर की तरह बाजार में उतर रहे हैं।

अब उत्पाद मानकर साहित्य की मार्केटिंग ही नहीं हो रही है, बाजार की मांग के अनुसार इसके सरोकार, वस्तु, शिल्प आदि में भी बदलाव किए जा रहे हैं। इसमें मनोरंजन, उत्तेजना और सनसनी पैदा करने वाले तत्त्वों की घुसपैठ बढ़ी है। इस कारण पिछले कुछ वर्षों से साहित्य में भी राजनेताओं, उच्चाधिकारियों, अभिनेताओं और खिलाड़ियों के व्यक्तिगत जीवन से पर्दा उठाने वाली आत्मकथात्मक, संस्मरणात्मक और जीवनीपरक रचनाओं की स्वीकार्यता बढ़ी है। बिल क्लिंटन और मोनिका लेविंस्की की यौन लीलाओं के वत्तांत का हिन्दी रूपांतरण मैं शर्मिंदा हूं को साहित्य के एक विख्यात प्रकाशक ने प्रकाशित किया और यह हिन्दी पाठकों में हाथों–हाथ बिक गया। हिन्दी में ही नेहरू और लेडी माउंटबेटन एडविना के प्रणय संबंधों पर आधारित केथरिन क्लैमां के फ्रेंच उपन्यास ने पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की। इसी तरह विख्यात पत्रिका हंस में राजेन्द्र यादव द्वारा चर्चित प्रसंग होना और सोना एक औरत के साथ को हिन्दी की साहित्यिक बिरादरी ने चटखारे लेकर पढ़ा और सराहा। हिन्दी की श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं में भी जाने–अनजाने मनोरंजन और उत्तेजना पैदा करने वाले तत्त्वों की मात्रा पिछले दस–बारह सालों में बढ़ी है। साहित्य में साधारण की जगह असाधारण का आग्रह बाजार की मांग के कारण निरंतर बढ़ रहा है। यूरोपीय और अमरीकी बाजारों में भारतीय और अफ्रीकी लेखकों की किताबें बेस्ट सेलर सूचियों में शामिल हो रही हैं और पुरस्कारों से नवाजी जा रही हैं।

वैश्वीकरण ने भाषाओं के अस्तित्व और इस्तेमाल के ढंग को भी प्रभावित किया है। एक तरफ ऐसा लगता है कि सांस्कृतिक एकरूपीकरण से अधिकांश अंग्रेजीतर भाषाओं का अस्तित्व संकट में आ गया है। अधिकांश लोकप्रिय सांस्कृतिक उत्पाद अंग्रेजी भाषा में है इसलिए इनकी लोकप्रियता के साथ अंग्रेजी का वर्चस्व और विस्तार भी तेजी बढ़ रहा है। कैंब्रिज एनसाइक्लोपीडिया आफ द इंग्लिश लैंग्वेज के लेखक प्रोफेसर डेविड डाल्वी का मानना है कि बहुत जल्दी ही विश्व भर में सबसे ज्यादा अंग्रेजी बोलने वाले

भारत में ही होंगे। अंग्रेजी की लोकप्रियता का असर विश्व की दूसरी भाषाओं को बदल भी रहा है। भारत में एक–दो दशकों में अंग्रेजी से प्रभावित हिंदी का नया संस्करण हिंगलिश चलन में आ गया है। लेकिन यह भी सच है कि विश्वकी अंग्रेजीतर भाषाओं के लिए आज जैसे अवसर हैं वैसे पहले कभी नहीं थे। गूगल इस समय विश्व की 116 से अधिक भाषाओं में है। इन भाषाओं का संरक्षण और समृद्धि अब पहले की तुलना मे आसान है।

बाजार द्वारा संस्कृति को उत्पाद और उद्योग में बदलने का लाभ यह हुआ है कि इसका उपयोग पहले की तरह अब कुछ वर्गों तक सीमित नहीं रहा। इसके उपभोग में जाति, धर्म, संप्रदाय और लैंगिक भेदभाव समाप्त हो गया है। साहित्य भी संस्कृति का एक रूप है, इसका भी व्यापक और त्वरित गति से जनतंत्रीकरण हुआ है। इस कारण अब साहित्यिक अभिव्यक्ति और इसके उपभोग की आकांक्षा समाज के सभी वर्गों में खुलकर व्यक्त हुई है। विश्व भर में दलित और स्त्री अस्मिताओं का उभार इसी कारण संभव हुआ है। इस दौरान भारतीय भाषाओं के साहित्य में दलित वर्ग के कई साहित्यकारों ने अपनी अलग पहचान बनाई। हिन्दी में भी इस दौरान दलित विमर्श मुख्य धारा में आया। दलित वर्ग की तरह ही इधर साहित्य में अपनी अस्मिता के प्रति सचेत स्त्री रचनाकारों ने भी बड़ी संख्या में उपस्थिति दर्ज करवाई है। अंग्रेजी और हिन्दी की लगभग सभी लोकप्रिय और साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं ने इस दौरान स्त्री रचनाओं पर विशेषांक प्रकाशित किए हैं। साहित्य के जनतंत्रीकरण का एक और लक्षण गत कुछ वर्षों की हिन्दी की साहित्यिक सक्रियता में खास तौर पर लक्षित किया जा सकता है। पहले हिन्दी की साहित्यिक सक्रियता और प्रकाशन के केन्द्र महानगरों में होते थे। अब ये वहां से शहरों, कस्बों और गांवों में फैल गए हैं।

वैश्वीकरण के अंतिम चरण में व्यक्तियों और समूहों को ग्लॉबल स्तर पर सहभागी और प्रतिद्वंद्वी होने की जो नयी ताकत मिली है, उससे साहित्यिक अभिव्यक्ति की पारंपरिक अवधारणा बदल रही है। अब साहित्यकार होने के लिए किसी पारंपरिक अर्हता की जरूरत नहीं है। इंटरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब से यह बहुत आसान हो गया हैं। अब साधारण व्यक्ति अपनी भावनाओं और विचारों को ब्लॉग लिखकर व्यक्त कर सकता है। अब इसके लिए किसी प्रकाशक के पास जाने जरूरत नहीं है। एक सूचना के अनुसार रोज 1 लाख 20 हजार नए ब्लॉग बनाए जाते हैं। 2006 के आकडों के अनुसार नेट इस्तेमाल करनेवाल भारतीयों में से 14 प्रतिशत ब्लॉगिंग करते थे औ, 39 प्रतिशत को ब्लॉगिंग की जानकारी थी। अब हिंदी में भी ब्लॉग लिखने का चलन तेजी से बढ़ रहा है। अब बंद हो गए एग्रीगेटरचिठ्ठा जगत पर 2004 से 2007 के बीच केवल 1 हजार ब्लॉग थे, लेकिन केवल एक वर्ष में ही यह संख्या बढ़कर 6 हजार के निकट पहुंच गई थी। वर्ष 2010 में हिन्दी ब्लॉगों की संख्या 1 लाख का आंकड़ा पार कर चुकी थी।

बहुराष्ट्रीय कंपनियां और मीडिया बहुराष्ट्रीय पूंजी के नियंत्रण और निर्देशन में जिस उपभोक्तावाद और आर्थिक–सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का प्रसार कर रहे हैं उसका प्रतिरोध मुख्यतया साहित्य में ही हो रहा है। इस प्रतिरोध के कारण गत दस–पंद्रह सालों के हमारे साहित्य के सरोकारों और विषय वस्तु में बदलाव आया है। हिन्दी में भी यह बदलाव साफ देखा जा सकता है। मनुष्य को उसके बुनियादी गुण–धर्म और संवेदना से काटकर महज उपभोक्ता में तब्दील कर दिए जाने की प्रक्रिया का खुलासा करने वाली कई कविताएं इस दौरान हिन्दी में लिखी गई हैं। इसी तरह आर्थिक–सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों पर एकाग्र उपन्यास और कहानियां भी हिन्दी में कई प्रकाशित हुई हैं। उपभोक्तावाद और आर्थिक–सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया इस दौरान हिन्दी कविता में पलायन की नई प्रवृत्ति के उभार में भी व्यक्त हुई है। कई कवि इस नई स्थिति से हतप्रभ और आहत होकर घर–गांव की बाल किशोरकालीन स्मृतियों में लौट गए हैं।

बाजार और मीडिया साहित्य की शिल्प प्रविधि को भी अनजाने ढंग से प्रभावित कर बदलता है। साहित्यकार मीडिया का उपभोक्ता है इसलिए अनजाने ही उसकी कल्पनाशीलता इससे प्रभावित होती है। इसके अनुसार उसका अनुकूलीकरण होता है। खास तौर पर टीवी के कारण साहित्य की प्रविधि और शिल्प में जबर्दस्त बदलाव हुए हैं। दस–पंद्रह सालों के साहित्य में इस कारण दृश्य का आग्रह बढ़ गया है–यहां वर्णन पहले की तुलना में कम, दृश्य ज्यादा आ रहे हैं। इसी तरह पाठक अब पहले से सूचित है और पहले से ज्यादा जानता है, इसलिए इधर की रचनाओं में सूचनाएं कम हो गई हैं या असाधारण सूचनाएं बढ़ गई हैं। टीवी के प्रभाव के कारण ही लंबी कहानियों और उनके एपिसोडीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। साहित्य की पारंपरिक तकनीक रोचकता और रंजकता के पारंपरिक उपकरण ओवर एक्सपोजर से बासी हो गए हैं, इसलिए इधर के हिन्दी साहित्य में इनके विकल्पों के इस्तेमाल की सजगता दिखाई पड़ती है। रचनाकार पुराकथाओं या मिथकों की तरफ लौट रहे हैं और वर्णन की पुरानी शैलियों का नवीनीकरण हो रहा है। बाजार और मीडिया ने पारंपरिक साहित्य में एक और खास तब्दीली की है। अब साहित्यिक विधाओं का स्वरूपगत अनुशासन ढीला पड़ गया है। इनमें परस्पर अंतर्क्रिया और संवाद बढ़ रहा है। इसका असर हिन्दी में भी दिखाई पड़ने लगा है। इसी कारण हिन्दी में उपन्यास आत्मकथा की शक्ल और आत्मकथा उपन्यास की शक्ल में लिखे जा रहे हैं। कहानियां पटकथाएं लगती हैं और संस्मरण कहानी के दायरे में जा घुसे हैं। इसी तरह हिन्दी कविता ने भी अपने पारंपरिक औजारों का मोह लगभग छोड़ दिया है। यह अधिकांश बोलचाल की भाषा के पेच और खम के सहारे हो रही है।

संस्कृति परिवर्तन का आईना है। परिवर्तन की अभिलक्षणाएं सबसे पहले इसमें ही दिखाई पड़ती है। वैश्वीकरण और बाजार की सर्वोपरिता से यह पूरी तरह हिल गई है। परिवर्तन की गति इतनी विविध, विरोधाभाषी और तीव्र है कि फिलहाल इसके संबंध में कोई राय कायम करना मुश्किल काम है। केवल इतना कहा जा सकता है कि ये सभी परिवर्तन नकारात्मक नहीं हैं। साहित्य में इस कारण असमंजस और जबरदस्त बेचैनी है। यह फिलहाल हाशिए पर है। ऐसा लगता है कि आगे चलकर इसके कुछ रूप खत्म हो जाएंगे और कुछ पूरी तरह बदल जाएंगे। इस पर रोना–धोना तो होगा, लेकिन यह सब नक्कारखाने में तूती की तरह दब जाएगा।

साहित्य और मानवाधिकार*

नंद चतुर्वेदी

साहित्य और मानवाधिकारों का अघोषित किन्तु बेहद समीप का मैत्री–सम्बन्ध है। साहित्य के बारे में अमूमन यह जन–धारणा है कि उसका सम्बन्ध किसी अलौकिक दिव्यता से है इसलिए उसे ज़िन्दगी और उसकी दारुण यातनाओं से कोई लेना–देना नहीं है। ज़िन्दगी की पूरी दुर्दशा और गरिमा–हीनता में धँसे–फँसे कुछ कवि–लेखकों ने भी अपने लेखकीय प्रयोजन और आनंद को 'ब्रह्मानंद सहोदर' समझने में सार्थकता अनुभव की है। वे शब्द को 'ब्रह्म' की कोटि में बैठा कर स्वयं को काव्य संसार का प्रजापति घोषित करते रहे हैं।

इसी का परिणाम था कि एक आधार विहीन दुनिया में वे कल्पना के पंखों पर बैठे रहे। वे यह भूल गये कि कल्पना के पंखों पर बैठे रहकर भी उनके पैरों में संसार की जंजीर है। इस यथार्थ से परिचित कराते एक कवि ने लिखा 'कल्पना के पंख पर बैठा हुआ मैं, पाँव में जंजीर है संसार की।' (कवि सुधीन्द्र)

साहित्य–रचना की शक्ति और उसकी अलौकिकता–लौकिकता को लेकर कितने भी सिद्धान्त रहे हों लेकिन दुनिया भर के महत्त्वपूर्ण रचनाकारों ने रचना–स्वाधीनता और अन्य मानवाधिकारों की पक्षधरता की है। देखें कि वे ब्रह्मा की तरह स्वैच्छिक संसार रचते हैं। संस्कृत के एक श्लोक की अर्धाली में इस स्वाधीनता की संकोच रहित होकर घोषणा की गई है। कहा है 'अपारे काव्य संसारे कवि रैवः प्रजाति।' इस प्रजापति को जैसा रचे वैसा संसार बनाने की स्वतंत्रता है। यह दरअसल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार की घोषणा है। मेरा आग्रह है कि इसी अभिप्राय से 'निरंकुशः कवयः' वाले पद–बंध को भी पढ़ा जाना चाहिए। प्रकारान्तर से यह 'धर्म' और 'राज्य' के अधिनायकवादी व्यवहार और आज्ञाओं के विरुद्ध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की पक्षधरता है।

मैं विनम्रतापूर्वक यह रेखांकित करना चाहता हूँ कि साहित्य मानवाधिकारों की पक्षधरता का दस्तावेज है। उसने आत्म–हीनता, गरीबी, पराधीनता, पतनशीलता, जाति भेद तथा वर्चस्ववाद की तमाम श्रेणियों के विरुद्ध संघर्ष किया है। यह कहना घमंड की बात नहीं है कि साहित्य ने 'राज्य–सत्ता' के खिलाफ़ 'शब्द–सत्ता' का मोर्चा सदा खुला रखा।

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (उदयपुर) में पढ़ा गया आलेख।
प्रसिद्ध हिंदी कवि एवं लेखक

मानवाधिकार आयोग की तरह 'गरिमामय जीवन' की मांग करने के प्रसंग में यह तथ्य बार–बार दुहराया जाता है।

मानवाधिकारों की भावनात्मक–पक्षधरता करना साहित्य का चिरंतन प्रयोजन है। आज जैसी मानवाधिकार आयोग की छवि है वैसी न रही हो, अधिकार–उल्लंघन पर दंड न मिलता हो, कोई विधिवत् आचार–संहिता भी न हो तब भी मानवाधिकार की गरिमा का बोध साहित्य–ग्रंथों में कई–कई रुपों में रेखांकित है। कवि ने कई–कई तरह से कई बार यह कहा है, "सुनो हे मानुष भाई, शबार ऊपर मानुष सत्य तहार ऊपर नाई' (चण्डीदास) हे मनुष्य मित्रों सुनो, सब के ऊपर मनुष्य ही सत्य है, उसके ऊपर कुछ नहीं।" मानवाधिकार आयोग की स्थापना का लक्ष्य भी मनुष्य की सर्वोपरिता को सुरक्षित रखना ही है।

संसार के साहित्य और कला–कृतियों ने मानव–जीवन के अधिकार और गरिमा को सुरक्षित रखने का दायित्व निभाया है। ध्यान से देखें तो साहित्य ने मानवाधिकारों के लिए उर्वरा और कोमल चित्त–भूमि बनाने का काम किया है। कई बार उसने राज्य–सत्ताओं को अपनी क्रूरताओं, अपने घमंड से परिचित कराया है। कुंभनदास कवि ने सीकरी की राज–सत्ता का घमंड तोड़ते हुए कहा, "संतों का सीकरी से कोई लेना–देना नहीं। आते–जाते जूतियाँ घिसती हैं हरि नाम भी बिसर जाता है। जिनका मुँह देखने से ही क्लेश होता है उन्हें झुक–झुककर सलामे करनी पड़ती है। कुंभनदास कवि कहता है कि गिरधरलाल ही काम के हैं दूसरे सब बेकाम हैं।" मूल पद इस प्रकार है–

संतन को सिकरी सन काम ?
आवत जात पन्हैया टूटी बिसर गयो हरिनाम
जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करिवै परी सलाम
कुंभनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बे काम।

राज्य सत्ता के साथ–साथ प्रभुता और पद के जितने उन्मादकारी प्रसंग हैं उनके साथ साहित्य की तकरार लगातार चलती रही है। यह लक्षित किया जा सकता है कि शब्द की मार सहने से भयावह राज–शक्तियाँ हों या धर्म–शक्तियाँ या कि वर्चस्ववादी सामाजिक शक्तियाँ सबने पुस्तकों को नष्ट किया, जलाया या प्रतिबन्धित किया क्योंकि शब्द का सत्य राजाज्ञाओं, धर्माज्ञाओं, प्रभुवर्ग के कायर इरादों को अस्वीकार करता है और उन पाखंडों से लड़ता है जो अतार्किकता, असंगत और अमानवीय हैं।

मानवाधिकार समाज–रचना और संस्कृति को स्थायित्व देता बोध और प्रयत्न हैं जो समता और स्वतंत्रता के प्रतिमानों पर आधारित हैं। साहित्य का सौन्दर्य–शास्त्र और कुछ नहीं है, वह समता और स्वतंत्रता का सामाजिक संतुलन है। इस तरह साहित्य की अन्तर्वस्तु उसका सौन्दर्य प्रकारान्तर से मानवाधिकारों की आवश्यकता का विवेक या बोध

है। इस बोध का स्थान–काल से कोई सम्बन्ध नहीं है यह समता और स्वतंत्रता का बोध है जो पुराने से पुराना होकर आधुनिक हो जाता है और आधुनिक होकर भी पुरानी कोटियों में शामिल हो सकता है। समता और स्वाधीनता का बोध ही साहित्य को नये या पुराने की कोटियों में विभाजित करता है जो अन्ततः मानवाधिकार की स्वीकृति या निषेध की श्रेणियां हैं। अर्थात् वही साहित्य काल का अतिक्रमण करता नया होता है जो सामाजिक–जीवन में समता और स्वतंत्रता के मनोभावों को स्फूर्त करता है। इसका उत्तर देना कठिन है कि साहित्य समता और स्वाधीनता की चेतना का भाव कैसे जगाता है लेकिन यह निश्चित है कि यही चेतना और स्फूर्ति साहित्य का मौलिक तत्त्व और मानवाधिकारों की रचनाभूमि है।

इसी क्रम में यह लक्षित करना उत्साहप्रद है कि कई शताब्दियों पूर्व के साहित्यकार वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि ने स्त्री–पराधीनता के त्रासद प्रसंग को कितनी निर्भीकता के साथ सार्वजनिक विमर्श का प्रश्न बताकर अपनी पक्षधरता का प्रमाण दिया है। 'उत्तर रामचरित' के कवि भवभूति ने राम के कपटाचरण पर व्यंग्य करते हुए लिखा– ये वही राम हैं जो कभी उस साध्वी सीता को यह कह–कह मोहित करते थे 'त्वं जीवनम्, त्वमसि मे हृदयम् द्वितीयम्, त्वं कौमुदी नयो यो अमृतम् त्वमंङ्गे'' (तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे आँखों की चन्द्रिका हो, तुम मेरे सम्पूर्ण अंगों में प्रवाहित होने वाला अमृत हो।)

महाभारत के रचयिता वेद व्यास ने द्रौपदी की अपमान–कथा को 'नर–नारी' समता का तब से लेकर आज तक का केन्द्रीय प्रश्न बना दिया है। संत कवि तुलसीदास ने एक विचलित करने वाली चौपाई में पूछा है ''केहि विधि सृजी नारि जग माँही, पराधीन सपने हु सुख नाही।'' सूर ने प्रेम का जो अद्भुत 'युटोपिया' रचा है वह हमारे आचरण की दमित कामनाओं का विरोध करता वासना को संतुलित और उदात्त रूप देता है। सूर के साथ अष्टछाप के कई कवि रसहीन और बाँझ होती संस्कृति को स्नेहसिक्त कर देते हैं। मानवाधिकार के पक्ष में ये कवि–वृन्द निष्कलुष मनोभूमि रचता है और स्त्री–पुरुष मैत्री की 'स्पेस' बनाता है।

यह रेखांकित करने की आवश्यकता है कि साहित्य ने लौकिक कामनाओं को कभी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। सामाजिक व्यवस्थाओं की अनीति–पूर्ण रचनाओं, विषमताओं, दीनता, जाति–पांति के भेद, भूख, अन्याय, सभी उसकी वर्ण्य–वस्तु रहे। भक्तों–संतों की कविताओं में लौकिक–क्लेशों के निवारण की विकल प्रार्थनाओं का महत्त्वपूर्ण अंकन है।

संत भक्तों का यह समुदाय अपनी गरीबी के प्रति लज्जित नहीं है, न किसी प्रकार की हीनता के बोध से क्लान्त है। निसंदेह गरीबी के इस सघन दबाव में 'भूख' का दंश कसकता ही रहता है। हरि–भजन के साथ 'भूख' की तकरार चलती है और किंचित

अधिकार की आक्रामक मुद्रा में भक्त आराध्य से कहता है 'भूखे भजन न होहि गुपाला। ये ले तेरी कंठी माला।' कबीर भूख के यथार्थ को अच्छी तरह जानते हैं वे श्रमिक–गृहस्थ हैं, दीन और दुनिया को संभाले। वे भूख–कुतिया की अराजकतावादी शक्ति से अपरिचित नहीं है। एकालाप करते कहते हैं देखो कबीर यह भूख–कुतिया है। इसे जब तक टुकड़ा नहीं डालोगे यह हरि–भजन में बाधा 'विधु' डालती रहेगी। पहले इसे टुकड़ा डालो फिर निश्चित होकर भजन करो।

कबीरा क्षूधा कूकरी, करत भजन पे भंग
या को टुकड़ा डारिके, भजन करो निःशंक।

व्यापक रूप से भूख के आपराधिक चरित्र की जानकारी संस्कृत के श्लोक की इस पंक्ति से मिलती है : विभुक्षितम् किम् न करोति पापम्' भूखा कौन–सा पाप नहीं करता? इस संदर्भ में यह श्लोक भी याद आता है जो गांधारी ने भगवान् श्रीकृष्ण से कहा था–

वासुदेव जरा कष्टम् निर्धन जीवनम्
पुत्रशोक महाकष्टम् कष्टातिकष्टम् क्षुधा

हे वासुदेव वृद्धावस्था कष्ट है। जीवन पुत्र शोक महाकष्ट और भूख तो कष्टों का भी महा कष्ट है।

यह देखने की बात है कि कि इन श्रमिक लगभग अपढ़ किन्तु संस्कारित कवियों ने उस भूख के आंदोलन को निरन्तर सामाजिक, संवेदनशील जीवंत बनाये रखा जिसे सामंतवादी–व्यवस्था ने उपेक्षा के अंधकार में धकेल दिया था। उन्होंने ईश्वर को निर्धनों, वंचितों, क्षुधितों के पक्ष में रखा। उसे दीन बंधु, गरीब नवाज़, दीना नाथ, दयालु सम्बोधनों से अपना संरक्षक बनाया। विलासी, विषमतावादी, प्रभुजनों के घर नहीं जाने दिया। कहा–

शबरी के बेर सुदामा के तांदुल रुचि–रुचि भोग लगायो।
दुर्योधन की मेवा त्यागी साग विदुर घर खायो।

सामाजिक समता के इन पक्षधर कवियों ने अपनी सहज लोक भाषा में जाति–पांत, धन–संचय, साम्प्रदायिक संकीर्णतायें, कर्मकाण्ड का निरन्तर विरोध किया। वे उन शक्तियों, समूहों और दंभी ज्ञानियों का प्रतिरोध करते रहे जो धर्म, जाति, कुल, जन्म, सम्पत्ति के आधार पर ऊंच–नीच का अमानवीय समाज बनाये हुए थे और इस दुनिया को ईश्वर–निर्मित, व्यवस्थित और अपरिवर्तनीय मानते थे। संत–भक्त, साधु–मना भोले कवियों ने इस अवधारणा को अपनी सहज विनम्रता और श्रम–निष्ठ जीवन–रचना से ध्वस्त कर दिया। जिस सधुक्कड़ी, जानी–पहचानी भाषा में उन्होंने सामंती–समाज और पंडितों से मामूली–से लगने वाले वे प्रश्न पूछे जो अनुत्तरित रहे। वे गैर–बराबरी वाले

समाज को बराबरी की जमीन पर लाने वाले प्रश्न थे। वे दुनिया को अधाये हुए समाज से वंचितों के लिए पूछे गये थे। वे ऊँची जात वालों से नीची जाति के विभाजन की तार्किकता के बारे में पूछे गये थे। वे धन–संचय की मर्यादा से सम्बन्धित थे। वे दरसल आज की समाज–शास्त्रीय भाषा में शोषण–रहित समतावादी समाज–रचना की सम्भावना को तलाशते थे।

साहित्य के इस समता–स्वाधीनता के 'यूटोपिया' को दुनिया की एक अनिवार्य व्यवस्था बनाने के जिस महान् प्रयत्न में 'मानवाधिकार आन्दोलन' लगा है उसका समर्थन करने के लिए साहित्यकार आज अधिक सजग, चौकन्ना, सावधान होकर लोक मंगलकारी शक्तियों के साथ हैं। मनुष्य की 'बराबरी और स्वाधीनता' का सवाल भावुकता भरा और रुमानी नहीं है वह एक जरूरी सवाल है जो मानवीय गरिमा, सभ्यता और इतिहास बचाने के साथ जुड़ा है।

बांग्ला स्त्री–लेखन में स्त्री–अधिकार चेतना, सोच एवं संघर्ष*

#प्रो0 सोमा बंधोपाध्याय

बंगदेश प्राचीन काल से ही साहित्य प्रेमियों का देश रहा है। इसके विशाल समृद्ध साहित्य मंजर को गढ़ने में जितना लेखकों का योगदान रहा है, लेखिकाओं का उससे किसी अंश में कम नहीं रहा, परंतु केवल लिखने का ही नहीं, पढ़ने का अधिकार, अक्षर–ज्ञान का अधिकार भी उन्हें अत्यधिक संघर्ष करने के पश्चात् ही मिया पाया था।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में, बांग्ला–साहित्य–क्षेत्र में अन्य भारतीय भाषाओं के समान, (विशेष रूप से हिंदी और मराठी) मुद्रण (प्रेस) एवं गद्य का अरंभ लगभग एक साथ ही हुआ था। साक्षर बंगाली, विशेषकर पुरुष, कई मामलों में आगे निकल गए, परंतु उसी सामज की महिलाएँ जहां की तहां रह गईं। लिखना तो दूर, शिक्षित होने की कल्पना भी वे नहीं कर सकती थीं, जबकि इच्छा प्रदत्त थी। अपनी इसी तीव्र–इच्छा के चलते पुरुष प्रतापी समाज के नियमों की परवाह न करके कुछेक दुःसाहसी महिलाओं ने सिर्फ अपने आन्तरिक प्रयास से चढ़ना सीख ही लिया। सन् 1856 तक बंगाली महिलाअें को एक दुर्लभ सामाजिक अधिकार प्राप्त हो चुका था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के लम्बे संघर्ष के चलते विधवा विवाह को कानूनी स्वीकृति मिल चुकी थी। यह वर्ष और एक महत्वपूर्ण घटना का साक्षी बना। इसी वर्ष बांग्ला साहित्य के आंगन में पहली बार किसी महिला साहित्यकार के चरण–चिह्न पड़े। आधुनिक युग के बंगाली स्त्रियों के साहित्य–रचना के इतिहास में पहली बार एक महिला ने अपनी उपस्थिति दर्ज की। नाम था कृष्णकामिनी दासी; जिन्होंने अपने 'चित्तविलासिनी' काव्य संग्रह का प्रकाशन करवाया। इसके ठीक दूसरे वर्ष, सन् 1857 में ऐतिहासिक सिपाही विद्रोह का उत्थान हुआ। सामाजिक–सांस्कृति–राजनैतिक आलोड़न–विलोड़न के बीच ही, स्त्रियाँ भी अपने अधिकारों के प्रश्नों को लेकर जागरूक होने लगीं। परिणामस्वरूप उन्होंने कलम उठा ली और तत्कालीन पुरुष समाज के प्रबल–प्रतिरोध के बावजूद अपनी सोच और विचार की छाप छोड़ने में सफल हो गई। कैसा था उनके इस संघर्ष का स्वरूप?

उस युग की कुछ मनस्विनी लेखिकाएँ जिन्हें आज बहुत कम लोगों ने याद रखा है, लेकिन जिनके साहित्य साधना के माध्यम से अधिकारों के लिए किए गए संघर्ष के कारण ही आज की इस स्वतंत्र नई पीढ़ी की लेखिकाओं की लेखनी की जड़ें मजबूत हुई हैं, उन्हें याद करते हुए हम अपने खोए हुए उत्तराधिकार को लुभाएंगे।

---

*राष्ट्रीय संगोष्ठी (त्रिपुरा) में पढ़ा गया आलेख

प्रोफेसर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

उन दिनों प्रकाशन की दुनिया में महज एक या दो महिलाओं की कविताओं को स्थान मिला था। उस काल की विख्यात पत्रिका 'संवाद प्रभाकर' में ऐसी कविताएं छपती थीं, परंतु गद्य छपना बहुत मुश्किल था। सन् 1860 में 'सोमप्रकाश' पत्रिका में प्रकाशित वामासुन्दरी देवी की रचना ही संभवतः किसी बांग्लाभाषी स्त्री की पहली प्रकाशित रचना थी। मज़े की बात यह भी कि उस रचना के साथ–साथ पत्रिका के संपादक की ओर से लिखित एक रचनाकार ही था। अर्थात् उन दिनों किसी स्त्री की कोई तर्काश्रित, युक्तिनिष्ठ गद्य–रचना प्रकाशित होने पर, पाठाकें को संदेह होने लगता है कि यह लेख किसी स्त्री का है या नहीं। जबकि बावामासुन्दरी के उस लेख में, सभी वर्णों या श्रेणियों को एक जाति और सभी जातियों को एक परिवार में बदलने की उदार मानवतावाद का सपना छुपा हुआ था। उसमें स्त्री के घर से बाहर निकलने की प्रयोजनीयता, देश–यात्रा की आवश्यकता एवं बाल–विधवाओं के पुनर्विवाह के अधिकार पर भी सवाल किए गए।

सन् 1863 में पहली बार एक निबंध–संग्रह, 'हिंदू महिलागणेर हीनावस्था' (हिंदू महिलाओं की हीन अवस्था) प्रकाशित हुआ। लेखिका कैलासवासिनी ने इस पुस्तक में स्त्रियों के सामाजिक षोषण और असहाय अवस्था की बात उठायी थी। किन्तु दुःख की बात यह थी कि उक्त ग्रंथ के साथ एक पत्र भी छापा गया था जिसमें विशिष्ट विद्वान आनन्दचन्द्र वेदांतवागीष ने लिखा था कि यह ग्रंथ कैलासवासिनी द्वारा ही रचित है। अर्थात् स्त्री द्वारा रचित हर लेख या पुस्तक के साथ किसी विशिष्ट विद्वान पुरुष द्वारा दिया गया प्रमाण–पत्र या प्रषस्ति पत्र का होना आवश्यक था। कैलासवासिनी की दूसरी रचना थी – 'हिंदू अवलाकुलेट विद्याभास' (हिंदू अवलाकुल की विद्याभ्यास)। यह किताब महिलाओं की शिक्षा संबंधी अधिकारों पर केंद्रित थी। इस प्रकार चाहे आधुनिक दृष्टिकोण से या पुस्तकों की संख्या की दृष्टि से, कैलासवासिनी देवी ही उस युग में स्त्री–रचनाकारों में सबसे आगे थीं।

और एक रोचक तथ्य यह है कि उन दिनों पत्रिकाओं में छपनेवाली महिला कथाकारों की रचनाओं के विषय क्या होंगे, इस पर उन पत्रिकाओं के संपादकों द्वारा स्पष्ट निर्देश दिए जाते थे। महालन – 'प–पत्नी में आपसी सद्भाव', 'घर–गृहस्थी के काम', 'कला और स्त्री' आदि। उस युग में कुछ घरों में स्त्री शिक्षा का उद्देष्य ही था – अच्छी पत्नी, अच्छी गृह वधू एवं अच्छी माँ बनना। लेकिन इतनी प्रतिबद्धताओं के बावजूद कुछ ऐसी लेखिकाएं भी थीं जिन्होंने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। कृष्णभाविनी दास एक ऐसी ही साहसी, आधुनिक सोचवाली लेखिका थी। उनका यह प्रतिवादी स्वर कई लेखों के माध्यम से ध्वनित हुआ था। शिक्षा, विवाह, धर्माचरण, ज्ञानार्जन आदि विभिन्न क्षेत्रों में नारी और पुरुष के सामन अधिकार को लेकर उन्होंने कई सवाल खड़े किए थे। 1226 बंगाल में प्रकाशित 'स्त्रीलोक ओ पुरुष' (स्त्री एवं पुरुष) शीर्षक निबंध में उन्होंने नारी विषयक प्रचलित मान्यताओं और स्वीकृत आदर्शों को मानने

से अस्वीकार किया और लिखा कि नारी केवल पुरुष के लिए बनी है या पुरुष की आज्ञा का पालन करने के लिए, यह न केवल एक गलत धारणा है, बल्कि इस धारणा के कारण ही स्त्री, पुरुषों के समान विभिन्न अधिकारों को पाने से वंचित है। यह प्रश्न भी उठाया था कि वह परिवार में जो माँ होती है वह अंत में भोजन करती है। यहां उल्लेखनीय विषय यह है कि यह विस्फोटक निबंध जिस 'भारती' नामक पत्रिका में छपी थी उसको प्रकाशित करने वाली भी एक समसामयिक लेखिका एवं अत्यंत साहसी सम्पादक स्वर्णकुमारी देवी थी। स्वाभाविक रूप से ही कृष्णभाविनी देवी के मंतव्यों को तत्कालीन पुरुष पराक्रमी वृद्धजन समाज ने बहुत आत्मीयता के साथ स्वीकार नहीं किया था। स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इनके विचारों का अपनी 'साहित्य' पत्रिका में कठोर आलोचना की थी।

स्त्री जाति के बारे में रवीन्द्रनाथ का एक उद्धरण है – (मानव समाज में) स्त्री जाति सर्वाधिक पुरातन है; 'पुरुष विभिन्न कार्य, विभिन्न अवस्थाओं, विभिन्न परिवर्तनों द्वारा सदैव विचलित हुआ है, पर स्त्रीलोक (नारी) केवल जननी एवं पत्नी के रूप में ही विराजनी रही है। किसी प्रकार के विद्रोह करने की इच्छा ने कभी उसे विक्षिप्त नहीं किया। तभी तो समाज के मर्म में नारी का सुन्दर एवं समन्वयकारी रूप स्थायी रूप से अंकित हो गया है–।' इस उद्धरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है – 'नारी' सदैव 'जननी' एवं 'पत्नी' के रूप में वरिाजती है, पर उन्होंने यह कभी नहीं लिखा कि पुरुष, समाज में 'पिता' एवं 'पति' के रूप में विराजता है।, नहीं, यह बात तो कोई स्त्री भी नहीं कहेगी, परंतु ज्योतिर्मयी देवी (उन्नीसवीं सदी की लेखिका) ने निडरता के साथ लिखा था – 'पृथ्वी पर एक जाति है, मनुष्य जाति।' उसे दो भागों में विभाजित किया गया है – नारी और पुरुष। किन्तु उससे भी मानव की समस्या का समाधान नहीं हुआ। उसने नारी जाति को भी दो हिस्सों में बांटा – एक हिस्से में वे स्त्रियाँ आती हैं जो पुरुषों की पतिव्रता पत्नी और उनकी सन्तान की जननी कहलाती है यानी कि उसकी सेविका, और वे ही समाज की आँखों में सती होती हैं, दूसरी वे स्त्रियाँ होती हैं जो पुरुषों की विलास–संगिनी होती हैं, उन्हें रिझानेवाली, गृहधर्म से वंचित निःसंग नारी–जिन्हें समाज पतिता कहता है।'

ज्योतिर्मयी ने यह भी लिखा था कि केवल सती और पतिता ही नहीं, और भी कई भेद होते हैं स्त्री से – उसकी जीवन परिस्थिति पुरुष के साथ उसके संबंध पर निर्भर है जैसे, पुरुष का उसके जीवन में होना या न होना, उदाहरण के तौर पर कुमारी, विवाहहिता, विधवा आदि उसके लिए विषेश्य हो जाते हैं।' बांगला में स्त्री–लेखन का इतिहास तलाशते समय स्त्री और पुरुष के बीच इस अन्तर को भी याद रखना पड़ता है। ज्योतिर्मय देवी का नाम महत्वपूर्ण है इस दृष्टि से भी कि पुरुष और नारी के चिराचरित संबंधों और नारी के अधिकारों को लेकर सर्वाधिक प्रश्न या आवाज़ उठानेवाली, उस काल में वही पहली लेखिका थी। उनके 'छायापथ' उपन्यास की नायिका 'सुप्रिया' विवाह नहीं करना चाहती। विवाहिता स्त्रियों को देखकर उसके मन में प्रश्न जागता है – 'पुरुष नारी

को लेकर घर बसाता है, उसे गुड़िया की तरह सजाता है, फिर इच्छा होने पर उसे निर्वस्त्र भी कर देता है, पर इसमें श्रद्धा कहां है? सम्मान कहां है?' इसी लेखिका की चालीस के दशक में प्रकाशित 'बैशाखेर निरुद्‌देष्य मेघ (वैशाख के उद्‌देश्यहीन बादल) उपन्यास की साँवली नायिका पूछती है, 'क्या एक और का मोल सिर्फ एक पुरुष की आवश्यकता के अनुसार लगाया जाता है? सार संबंधों से ऊपर उठकर, केवल एक मनुष्य के रूप में क्या उसका कोई मूल्य नहीं? आवश्यकता नहीं? पृथ्वी के किसी भी देश के इतिहास में एक दिन के लिए भी क्यों वह एक मनुष्य के रूप में परिचित न हो सकी?' सोचने की बात है कि यह प्रश्न बिसवीं सदी के आरंभ में किया गया था। आज इक्कसवीं सदी के आरंभ में आकर भी यह प्रश्न अधिकांश नारी के जीवन में प्रासंगिक नहीं है क्या?

वैसे आधुनिक बांग्ला साहित्य में स्त्री–लेखन का आरंभ स्वर्णकुमारी देवी (1856–1932) से ही मानना चाहिए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बड़ी बहन स्वर्णकुमारी देवी अपने समय की एक प्रतिष्ठित लेखिका एवं पत्रकार थी। केवल बीस वर्ष की उम्र में ही प्रथम उपन्यास मिलखने वाली स्वर्णकुमारी देवी के उपन्यासों में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों और बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में घटने वाली घटनाएं, नवजागरण की चेतना से बदलती परिस्थितियाँ देश भर में होने वाले राजनैतिक आन्दोलन–स्वतंत्रता संग्राम में नारी की भूमिका आदि, विषय के रूप में आई हैं। 'दीपनिर्वान' (1876), 'मालती' (1880), 'विद्रोह' (1872), 'स्नेहलता' (1892), 'काहाके?' (यानी 'किसे') (1898), 'राजकन्या' (1913), 'विचित्रा' (1920), 'स्वप्नवाणी' (1921), 'मिलनरात्रि' (1925) आदि उनके विख्यात उपन्यास हैं। इनके अतिरिकत कई कहानी संग्रह, नाटक एवं निबंध–संग्रह भी प्रकाशित हुए। इन्होंने स्वयं अंग्रेजी में अपनी ही उपन्यास 'फुलेर माला' का अनुवाद 'The fatal garland' (1913) के नाम से और 'काहाके' का अनुवाद 'An unfinished song' के नाम से किया। ये सारा साहित्य सृजन उन्होंने अन्तःपुर के अन्तराल में रहकर किया। कभी पर्दे से बाहर नहीं आ पाई। अभवतः यही कारण था कि इतनी अयशिक्षित एवं विदूषी होने के बावजूद उन्हें वह लोकप्रियता का प्रचार नहीं मिला, जितना उनके भाई रवीन्द्रनाथ ठाकुर को मिला। यदि मिलता तो केवल बांग्ला समाज में नहीं वरन् समग्र विश्व में वह भी रवीन्द्रनाथ की ही तरह अंतरराष्ट्रीय ख्याति की अधिकारिणी होती। पर्दे के पीछे रहने वाली स्वर्णकुमारी देवी 'भारती' पत्रिका का संपादन भी करती थी एवं वंचित और शोषित स्त्रियों को आस्था एवं निर्भर बनाने के लिए –सखी समिति नाम की एक संस्था की भी स्थापना की थी।

स्वर्णकुमारी देवी के साथ ही एक और नाम लेना आवश्रूक हो जाता है, राससुन्दरी देवी (19वीं सदी की ही लेखिका) का। शताब्दियों से भी अधिक शोषण और अत्याचार के शिकार ये महिलाएँ किस प्रकार अपनो अधिकारों के प्रति धीरे–धीरे सचेतन हो रही थीं और अपने बारे में क्या विचार रखती थीं, ये उनकी ही सुवानी सुनी या सकती

है – राससुन्दरी देवी अपनी (जीवनी) 'आत्मकथा' में लिखती हैं – 'रोती हुई बालिका वधू, ससुराल में गयारह बच्चों को पालती–पोसती, भूखी पेट घर चलाती युवती वधू..., फिर वहीं, चूल्हे की आग की रोषरी में साड़ी के आंचल में किताब छिपाकर घूंघट की आड़ में पढ़ती वधू...।' राससुन्दरी आगे लिखती हैं – 'मैं यह पुस्तक अपनी बाएं हाथ में रखकर, साड़ी के पल्लू में छिपाकर उसे पढ़ती और दाएं हाथ में रसोई बनाती... पर फिर यह सोचकर रोती कि क्या यह शर्मनाक बात नहीं? मुझे इस तरह से यह पुस्तक पड़ना पड़ रहा है जैसे मैं कोई अपराध कर रही हूँ, सिर्फ इसलिए कि मैं एक स्त्री थी? चोरी–चोरी इस तरह से पढ़ना जैसे कोई पाप कर रही हूँ... इस पर भी ईश्वर की कृपा मानती हूँ कि मैंने पढ़ना सीखा है।' (आत्मकथा, पृ0 202)

राससुन्दरी देवी को अपने घर–परिवार में ही अपनी आवाज़ सुनाने के लिए बड़ा कठिन संघर्ष करना पड़ा। वह स्वर्णकुमारी जैसी भाग्यवाद नहीं थीं, जिन्हें अत्यंत योग्य और समथ्रन करने वाला पति (जानकीनाथ घोषाल) मिले थे और फिर वह ठाकुर वंष की बैटी भी थीं। पर राससुन्दरी को तो कच्ची उम्र में ही विवाहबंधन में आबद्ध होकर लम्बे समय तक सास पति की घृणा और अवहेलना का शिकार होना पड़ा। इसके बावजूद सिर्फ पढ़ना ही नहीं, लिखना भी सीखकर उन्होंने अमर रचनाओं की सृष्टि की। जिनमें सदैव इन्होंने महिलाओं की न्यूनतम अधिकारों की पूर्ति के लिए आवाज उठाई मसलन, शिक्षा, बाल–विवाह से मुक्ति आदि।

गांधीजी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ो लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूंखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

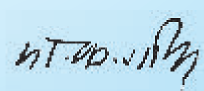

–महात्मा गाँधी

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग

मानव अधिकार भवन, सी–ब्लॉक, जीपीओ कॉम्पलेक्स,
आईएनए, नई दिल्ली–110023